एकता

लेखक
श्री चन्द्रबली पाण्डे

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन
प्रयाग

820
PAN
339

संवत् २००४
हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग

32

एकता

लेखक

श्री चन्द्रबली पाण्डे

839

Bhawan's Sri Sankaracharya Sanskrit Mahavidyalaya * Bharatiya Vidya
804

संवत् २००४

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग

प्रथमवार १०००

मूल्य तीन रुपये

Bhawan's Sri Sankaracharya

मुद्रक—सदलराम जायसवाल, राम प्रिंटिंग प्रेस, कीटगंज, इलाहाबाद

43

प्रकाशकीय

प्रस्तुत पुस्तक राष्ट्रभाषा हिंदी के एकनिष्ठ सेवक एवं इस युग के सुख्यात विद्वान और समीक्षक पं० चन्द्रबली पांडे के निबन्धों का संग्रह है। पाण्डे जी के इन विविध निबंधों में नवीन खोज के साथ-साथ सुन्दर स्थापनाएँ भी हैं, जो अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण और उपादेय हैं।

यह पुस्तक सम्मेलन की 'सुलभ साहित्य-माला' के अंतर्गत प्रकाशित हो रही है। इसकी ५०००) की निधि स्वर्गीय श्रीमान् बड़ौदा नरेश महाराजा सर सयाजीराव गायकवाड़ महोदय बम्बई के अधिवेशन में स्वयं उपस्थित होकर सम्मेलन को प्रदान की थी। इस 'माला' के द्वारा हिन्दी साहित्य की जो श्री-वृद्धि हुई है, उसका मुख्य श्रेय श्रीमान् बड़ौदा नरेश महोदय को है। श्रीमान् का यह प्रेमी अन्य हिन्दी प्रेमी श्रीमानों के लिए अनुकरणीय है।

सौर ७ मकर, २००४

साहित्य-मंत्री

विषय-सूची

			पृष्ठ संख्या
१—एकता	...	...	१
२—बख्शी	...	...	४
३—हिनवाना	...	...	८
४—हिन्दी हिसाब	...	...	१२
५—हिन्दू	...	...	१६
६—भात	...	...	१९
७—जर नभी से हूँ	...	...	२२
८—विद्यापति की अवहट्ट रचना	...	...	२५
९—मुसलमानों में कृष्ण	...	...	३०
१०—कबीर और गो-वध	...	...	३४
११—बीबी फातिमा की आह	...	...	३६
१२—पपहया रे पिव की वाणि न बोल	...	...	४०
१३—धनुष बान लेउ हाथ	...	...	४५
१४—सतपंच चौपाई मनोहर	...	...	४७
१५—स्याम सगाई	...	...	५१
१६—ब्राह्मण बाँधि बहायो	...	...	५६
१७—फजल के वध में शरीफ़ का हाथ	...	...	६०
१८—बिहारी का प्रतिबिम्बवाद	...	...	६५
१९—भूषण की राष्ट्रदृष्टि	...	...	६८
२०—देव की स्वभावोक्ति	...	...	७५
२१—नूर मोहम्मद की एक कविता	...	...	७८
२२—नागरीदास का गद्य	...	...	८२
२३—बाबा हरिदास	...	...	८६
२४—हिन्दी के वादी	...	...	८९
२५—रत्नाकर की आत्मशंसा	...	...	९३

		पृष्ठ संख्या
२६—'कौन हो तुम वसंत के दूत' ?	... ...	९७
२७—हिन्दोस्ताँ हमारा	... ...	१०१
२८—भोजप्रबन्ध में काशी	... ...	१०५
२९—शक्ति तथा ज्ञान काव्य	... ...	१०८
३०—विरोध का कारण क्या ?	... ...	११२
३१—उर्दू का जन्म दिन	... ...	११५
३२—उर्दू बाजार में बनी या दरबार में	... ...	११८
३३—नागरी की उपेक्षा क्यों ?	... ...	१२१
३४—अरबी क्यों नहीं ?	... ...	१२७
३५—मातृभाषा	... ...	१३१

—:०:—

१—एकता

हिन्दी पहाड़ी (जबल हिन्दी) की 'हिरा' नामक एकान्त गुफा में समाधि की अवस्था में मुहम्मद साहब को जो दिव्यवाणी सुन पड़ी वह थी 'इक़रा' (पठ)। मुहम्मद साहब को इस वाणी से जो विस्मय हुआ वह जिब्रील की कृपा से दूर हो गया और धीरे-धीरे यह 'पठ' 'क़ुर्आन' बन गया। क़ुर्आन की सबसे बड़ी विशेषता यह रही कि उसने स्पष्ट घोषित कर दिया कि अल्लाह के शब्द की इति नहीं। कहते हैं—

"व लौ अन्ना मा फ़िल् अर्ज़े मिन् शजूरतिन् अक़्लामुन् वल् बहूरो यमुद्दोहू मिन् बादहि सबूअतो अबूहोरिन् मा नफ़ेदत् कलेमातुल् लाहे इन्नलूलाहा अज़ीज़ुन हकीम।" (३१)

सूरत 'लुक़मान' की इस आयत की व्याख्या में श्री हसन निज़ामी देहलवी साहब लिखते हैं—

"और (उसके ज्ञान और हिकमत की शान यह है कि) समस्त पृथ्वी में जितने वृक्ष हैं, यदि (उन सबकी) क़लमें (बनी हुई) हों और समुद्र (का पानी) स्याही (हो और) उस (समुद्र) के (समाप्त हो जाने के) पश्चात् (उस जैसे) सात समुद्र (और) उसकी सहायता करें (और) फिर उन क़लमों (और दावातों से उसके ज्ञान तथा हिकमत के शब्द लिखे जावें, तो भी यह लेखन-कला के सब साधन समाप्त हो जावें, परन्तु) अल्लाह (के ज्ञान तथा हिकमत) की बातें समाप्त न हों। निस्संदेह अल्लाह (सब पर) बलवान् (और सबसे अधिक ज्ञान तथा) हिकमत वाला है।" (क़ुर्आन मजीद सन् १६२८ ई०, हिन्दुस्थान एलक्ट्रिक प्रेस, देहली)

ख्वाजा हसन निज़ामी साहब ने मूल की इस ढंग से टीका की है कि कोष्ठक को छोड़कर पढ़ने से वह आप ही प्रकट हो जाती है। 'शब्द ब्रह्म' की इस स्तुति में इतना और भी जान लेना चाहिये कि यही स्तोत्र पहले भी आ चुका था। सूरत 'कहफ़' की आयत १०९ में कहा गया था—

"यदि मेरे पालनकर्त्ता के कलमात (अर्थात् गुणों के लिखने) के लिये समुद्र (का पानी) रोशनाई बन जावे, तो मेरे पालनकर्त्ता के कलमात समाप्त होने (और लिखने के घेरे में आने) से प्रथम समुद्र (का समस्त पानी) समाप्त हो जाय। यद्यपि हम उसके समान (और एक समुद्र उसकी) सहायता के लिये ले आयें।" (वही, पृ० ४२६)

'रसूल' के द्वारा इस प्रकार जो घोषणा की जाती है उसका तात्पर्य यही न है कि जो कुछ शब्द तुम्हारे सामने आ चुका है उसी को सब कुछ न समझ लो, सच तो यह है कि अभी जो कुछ शेष है वह इतना है कि उसके सामने यह प्रकट सब कुछ कुछ भी नहीं है। यदि हाँ, तो मानना होगा कि अल्लाह की किसी बात की इति नहीं हो सकती। हम अधिक से अधिक उसका गुण-गान कर सकते हैं। ध्यान देने की बात है कि सूरत 'कहफ़' में जो बात सामान्य रूप से कही गई थी वही कुछ और दृढ़ता से सूरत 'लुक़मान' में पुष्ट की गई है। इसमें एक तो विशेषता यह आ गई है कि समुद्र-की संख्या बढ़कर सात हो गई है। पहले दो थी अब सात कर दी गई है और कलम के लिये 'पृथ्वी के समस्त वृक्षों का उल्लेख किया गया है। 'क़ुरआन' की इसी भावना का साक्षात्कार हमें कबीर की इस साखी में भी होता है—

"सात समंद की मसि करौं, लेखनि सब बनराइ।
धरती सब कागद करौं, तऊ हरि गुण लिख्या न जाइ।
(कबीर ग्रंथावली, पृ० ६२)

कबीर की साखी से कहा जा सकता है कि साखी का पूर्वार्द्ध क़ुरआन की आयत का अनुवाद है, किन्तु इसे कोरा अनुवाद न कहकर ईश्वर का गुणानुवाद ही कहना चाहिए। क़ुरआन' में 'कागद' का उल्लेख नहीं है, कागद उस समय संभवतः था भी नहीं। किन्तु लिखा तो जाता होगा किसी पत्र पर ही न? फिर भी 'क़ुरआन' को उस सामग्री के उल्लेख की आवश्यकता न पड़ी। अरबों के लिये इतना ही बहुत था। विवरण की उन्हें आवश्यकता न थी, किन्तु कबीर को जिनके सामने साखी भरनी थी उनका पाठ यह था—

"असित गिरिसमं स्यात्कज्जलं सिन्धुपात्रे,
सुरतरुवरशाखा लेखनी पत्रमुर्वी।
लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकालं,
तदपि तव गुणानामीश पारं न याति॥"
(महिम्नस्तोत्र, ३२)

कबीर का उत्तरार्द्ध इस 'स्तोत्र' के 'पत्रमुर्वी' और 'गुणानामीश पारं न याति' की प्रतिध्वनि मात्र है। हाँ, यदि कबीर में भी अभाव है तो लेखक का। कबीर अपनी साखी में यह नहीं बताते कि लिखे कौन। सो इसी की पूर्ति के हेतु मानो मलिक मुहम्मद जायसी आगे बढ़ते और अपनी अनूठी रचना 'पद्मावत' में बड़े विस्तार से कह जाते हैं—

"अति अपार करता कर करना, बरनि न पावै कोई बरना।
सात सरग जौं कागद करई, धरती समुद दुहूँ मसि भरई।
जावत जग साखा बनढाखा, जावत केस रोवँ पँखि पाँखा।
जावत खेह रेह दुनियाई, मेघ बूँद और गगन तराई।
सब लिखनी कै लिखु संसारा, लिखि न जाइ गति-समुद अपारा।"

(जायसी ग्रंथावली, स्तुति-खंड, दोहा १०)

जायसी ने अपनी समझ में कुछ भी नहीं छोड़ा। लिखने को सारा संसार आ गया। फिर शेष क्या रहा? बस केवल पाताल? पाताल पर किसी की दृष्टि नहीं गई। आवश्यकता भी नहीं थी। आकाश-पाताल के एक हो जाने पर फिर करने के लिये क्या रह जाता? आकाश आकाश ही है और पाताल पाताल ही। दोनों का लगाव बस इसी वसुधा से है जिस पर सारा संसार अपनी लेखनी से लिख रहा है। पर जायसी तो 'सात सरग' को ही 'कागद' बनाते हैं। उनके विषय में कहा भी जाता है कि उनकी दृष्टि में—

न्याव न कीन्ह, कीन्ह ठकुराई, बिन कीन्हे लिख दीन्ह बुराई।"

जो कुछ हो, पर इतना तो प्रत्यक्ष है कि 'स्तोत्र' में जहाँ, सुरतरुवरुशाखा' है वहीं 'लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकालं' भी, तो क्या इस 'सुरतरु' और इस 'शारदा' से इसलाम का कुछ लगाव नहीं? निवेदन है, ऐसा मानने का कोई दृढ़ आधार नहीं। जन्नत का 'तूबा' इसलाम का कल्पवृक्ष है तो उसके फरिश्ते शारदादि। 'शारदा' की जगह 'जिबरील' और 'सुरतरु' की जगह 'तूबा' का प्रयोग कर वन्दना में विशेषता लाई जा सकती थी, पर उधर ध्यान ही नहीं दिया गया। कोई विशेष आवश्यकता भी न थी। अरब और भारत के वासी एक ही धरातल के निवासी नहीं तो भी रहते तो हैं एक ही द्वीप में? फिर उनकी विचार-धारा में यह एकता क्यों न हो?

—:o:—

२—बख़्शी

'बखशी' का अर्थ समझना आज जितना कठिन हो गया है आज से २५ वर्ष पहले उतना कदापि न था। था तो उस समय भी, पर उतना कठिन नहीं। कारण यह कि जिस समय देखा कि 'पंडित जी' किसी व्यक्ति को 'बखशी जी' कहते हैं और अपने एक छात्र से उनके पास कोई सन्देश भी भेजते हैं उस समय इतना तो समझ लिया कि 'बखशीजी' कोई सभ्य मानव ही हैं। पर उस मानव से इस शब्द का लगाव क्या है, यह बात उस समय समझ में न आई। शब्द नया था और उसका संकेत अज्ञात। परन्तु 'पंडित जी' के 'बखशीजी' कहने से इतना तो जान ही लिया कि यह कोई आदर का शब्द है। भला कोई अध्यापक किसी को 'जी' करके पुकारे और उसका शिष्य उसे आदर न दे, यह कभी हो सकता है? और हो सकता है तो तभी जब शिष्य स्वयं भी कई बच्चों का बाप बन चुका हो अथवा कई कुओं का पानी पी चुका हो। किन्तु यहाँ तो अपनी दशा निराली थी। अभी-अभी घर से बाहर पाँव रक्खा था और पास के तहसीली स्कूल में हिन्दी पढ़ने गया था। फिर ज्ञान की ऐसी बयार कहाँ बह पाई थी कि अपने से अपने अध्यापक को कम समझता, अथवा उनके किसी ज्ञान को शंका की दृष्टि से देखता? परिणाम यह हुआ कि 'बखशी' शब्द के प्रति हृदय में आदर का भाव जम गया। इस जमाव को पानी और मिला कि 'बखशीजी' का लड़का अपने सम्पर्क में आ गया और अपने शील तथा सौन्दर्य की एक छाप हृदय पर छोड़ गया। समझा, हो न हो 'बखशीजी' कोई 'बड़ा आदमी' होगा। भाग्यवश एक दिन 'बखशीजी' का दर्शन भी हो गया। भाव तो वही रहा पर उसके प्रवाह में कुछ शिथिलता आ गई। किसी से कभी पूछने की चिन्ता ही नहीं की कि वस्तुतः 'बखशीजी' हैं क्या? आप कुछ भी कहें, अन्त में आपको मानना ही होगा कि संसार में न जाने कितने जीव ऐसे भी हैं जो जानना तो बहुत कुछ चाहते हैं पर किसी से कुछ पूछना नहीं; जो कुछ बन पड़ता है अपने आप ही सोचते रहते हैं। उनकी इस चिन्ता का कारण उनका स्वभाव होता है अथवा बाहरी दुनिया का व्यवहार, यह हमारे विचार का विषय नहीं; परन्तु संसार में ऐसा होता अवश्य है यही अपना प्रतिपाद्य विषय है; जो इतना स्पष्ट है कि इसमें किसी को कोई मीनमेष हो ही नहीं सकता।

जाने कितने दिन बीत गये कि फिर 'बखशीजी' सामने आये। उनका

रूप निराला था। इनको उस समय से जानता आ रहा था जब यह निठल्ले थे और किसी धन्धा के लिये इधर-उधर दौड़-धूप कर रहे थे। संयोग की बात ठहरी कि यह 'बखशी' बनकर हमारे गावँ पर आ गये। बात यह थी कि सरकार की कृपा अथवा जनता की पुकार पर हमारे गावँ में भी पशु-दंड के लिये एक 'कानी हाउज', 'मवेशीखाना' अथवा 'पशु घर' खुल गया और आप उसी के बाबू बनकर आये। आप के 'बखशी' होने का यही रहस्य है।

'बखशी' शब्द का प्रयोग गाँव वालों से नहीं सीखा। अपने गाँव के लोग तो उन्हें 'मुंशीजी' अथवा 'मवेशीखाना के बाबू' कहा करते थे। नहीं इसका प्रयोग इस अर्थ में पहले-पहल मैंने एक ऐसे सज्जन से सुना जो 'जोशी जी' थे और देहरादून से 'कानूनगो' होकर अपने यहाँ आये थे और रहते भी अपने गाँव ही में थे। उनकी कृपा का गुणगान क्या करूँ? वह तो एक स्वतंत्र विषय है। यदि उनकी कृपा अथवा सत्संग न होता तो यह जन कहाँ होता, क्या होता और क्या करता, इसे कौन कहे; परन्तु इतना तो प्रकट ही है कि 'बखशी जी' का 'पशु घर वाला' संकेत मैंने उन्हीं से सीखा। यदि उनका सम्पर्क न होता तो कब यह शब्द इस अर्थ के साथ कान में पड़ता इसका अनुमान तो आप भी नहीं कर सकते। कारण, यह तो दैव वा संयोग की बात ठहरी! और इसके लिये कोई ऐसी उतावली भी नहीं कि हो वा न हो पर किसी दैवज्ञ से इसे अवश्य पूछें।

जैसे-तैसे 'बखशी' शब्द यहीं तक आकर रह गया और उसके भांडार में कुछ और न भर सका। होते-होते हुआ यह कि एम० ए० पास कर उस काम में लगा जिसे खोज कहते हैं। खोज का विषय यद्यपि कुछ और था तथापि जानकारी किंवा 'का जाने केहि भेस में नारायण मिल जायँ' के विचार से 'सुजान-चरित्र' को भी देख डाला। देखा तो 'बखशी जी' बड़े कैंडे के जीव ठहरे, 'दरबार' उनके हाथ का खिलौना हो रहा है। 'वज़ीर' और 'बखशी', 'ईरानी' और 'तूरानी' में वह नोकझोंक चल रही है कि सिंहासन डोल उठा है और बस नौबत यह आ गई है कि दो में से एक की नहीं; अथवा शासन का सर्वनाश हुआ यह कि 'बखशी' विजयी रहा और 'वज़ीर' को मुंह की खानी, नहीं-नहीं इधर-उधर की खाक छाननी पड़ी, और इसका दुःखद परिणाम भी हुआ दिल्ली का सर्वनाश। जाटों ने दिल्ली को लूटा पर इसी फूट के कारण, सूदन ने स्पष्ट कहा भी है—

"औज की अगिन, इन्द्रपुर सों अगिन कुंड
होता श्री 'सुजान' जजमान 'मनसर' है !"

यह तो देख लिया कि 'बखशीजी' किसी 'कानी हाउज' वा 'पशुगृह' के ही कर्त्ता-भर्त्ता नहीं हैं अपितु वे किसी शासन के भी विधाता हैं। लार्ड किचनर के सामने लार्ड कर्जन को झुकना पड़ा था : बलाध्यक्ष ने अधिपति को पछाड़ दिया था। फिर 'बखशीजी' किसी से कब हारनेवाले थे। परन्तु यहाँ तक कोई बात न थी। देखा 'बखशीजी' का अधिकार 'पशु' पर ही नहीं 'सेना' पर भी है पशु की नहीं सेना की बही रखते हैं। पद तो नहीं पर भाव तो वही है ?

किन्तु इधर फिर 'बखशी' की चिन्ता जगी। बात यह हुई कि एक एम० ए० की छात्रा को मुगल दरबार की कार्य-प्रणाली पर शोध की सूझी, कुछ अपना सम्पर्क भी हो गया। उसने प्रश्न किया—क्या 'बखशी' भिक्षु का रूपान्तर है ! निवेदन किया—हो सकता है। पर 'वक्षी' से ही उसका अधिक साम्य है। 'वक्षी' से बखशी' बताने का कारण यह था कि बलाध्यक्ष का सम्बन्ध वक्ष से ही अधिक था, कुछ भिक्षा से नहीं ! उसने क्या किया अथवा इसका अर्थ समझा यह तो उसकी बात ठहरी अपनी राम कहानी तो यह है कि अब 'बखशीजी' शोध की खराद पर चढ़ गए और कभी 'वक्षी' और कभी 'भिक्षु' बनने लगे। होते-होते हुआ यह कि आज उन पर एक लेख ही लिखना पड़ा।

अभी-अभी की बात है कि 'पोयट्री एण्ड प्रोफ़ेसी' नाम की पुस्तक पढ़ रहा था, पढ़ते-पढ़ते देखा यह कि यहाँ भी 'बखशीजी' विराजमान हैं पर इस रूप में नहीं। यहाँ उनका रूप है 'बक्श' (Baksh), और वे आये भी हैं—'नैना बड़े क़ज़ाक' के 'कज़ाक' के साथ, 'कज़ाक बक्शों' की समाधि चर्चा ने तुरन्त बौद्ध भिक्षु को सामने ला खड़ा किया और 'बखशी' को 'भिक्षु का रूपान्तर मानने को बाध्य किया। साथ ही पड़ोस के इसी कोटि के शमन (Shaman) शब्द ने हमारे विचार को और भी दृढ़ कर दिया और तुरंत यह दृश्य दिखाई दिया कि जैसे हमने तातारी 'कज्जाक' और 'उज़बक' को 'कज़ाक' और 'उजबक' के रूप में अपना लिया है, वैसे ही वे हमारे 'भिक्षु' और 'श्रमण' को 'बक्श' और 'शमन' के रूप में अपना चुके हैं; और फलतः ये शब्द काम भी अपना ही कर रहे हैं। परन्तु नहीं, आज की हमारी स्थिति को देखते हुए कोई भी सहसा मान नहीं सकता कि वास्तव में कज़ाकी बक्श हमारे भिक्षु ही हैं। तातार का भिक्षु से नाता क्या !

सच है। हम अपने इतिहास को इतना भूल चुके हैं कि यदि कोई हमें हमारा इतिहास दिखाता है तो भी हम अपनी आँखें मींच लेते हैं और बड़े तपाक से निर्द्वन्द्व भाव से कहते हैं कि नहीं, ऐसा हो नहीं सकता। परन्तु वाह रे शब्द; इस पतित दशा में भी तू अपनी आन पर अड़ा है और धीरे-धीरे सारा रहस्य खोलकर संकेत से बता रहा है कि तू वास्तव में कहाँ का प्राण है। 'शमन' को जाने दीजिये और लीजिये केवल इसी 'बखश' को। इसमें तो सन्देह नहीं कि कजाकों में इसकी वही स्थिति है जो कभी सिद्धों की यहाँ थी। 'बखश' के कार्य-कलाप को देखकर कोई भी विचार-शील व्यक्ति इसे अन्यथा मान नहीं सकता और जब मध्य-एशिया के अवशिष्ट बौद्ध चिह्नों को देखेगा तब तो अवश्य ही इसी का ही रहेगा। फिर भी हम देखते हैं कि कुछ लोग इसे नहीं मानते और इसे कुछ और ही बताना चाहते हैं। परन्तु इतिहास मुँह खोलकर बोल रहा है कि वस्तुतः 'बखशी' भिक्षु ही हैं। 'भिक्षु' भीख माँगना छोड़कर हथियार का स्वामी कैसे बन बैठा, इसे कुछ वैसा ही समझ लीजिये जैसा ईसाई का गाल फेरना छोड़कर बम बरसाना। किन्तु यह तो कहने की बात हुई। वस्तु-स्थिति तो यह है कि 'उइगुर' भाषा में भी यही शब्द 'बखश' के रूप में तिब्बत से गया और आज भी जन-संख्या का लेखक उक्त भाषा में 'बक्शी' ही कहलाता है। क्या इससे यह भी स्पष्ट नहीं हो जाता कि लेखन का प्रचार भी उनमें भिक्षुओं के द्वारा ही हुआ! इतना ही नहीं, इतना और भी जान लें कि मङ्गोल 'बक्शी' का प्रयोग 'जर्राह' के अर्थ में करते हैं। यह तो और भी विलक्षण और विपरीत हुआ। परन्तु नहीं, गिरनार की पहाड़ी चिल्लाकर कह रही है कि प्रियदर्शी अशोक ने देश-देशान्तर में 'मनुसन्निकीछा' और 'पसु-चिकीछा' की विधि बैठाई थी और मध्य-एशिया में भगवान बुद्ध 'भैपज्य गुरु' के रूप में विराजमान थे। जिनका दर्शन आज भी वहाँ जाकर कहीं न कहीं किया जा सकता है, अथवा सर आरेल स्टीन की कृपा से घर बैठे ही देखा जा सकता है। 'उइगुर' जाति के द्वारा बौद्ध मत का जो कार्य मध्य एशिया में सधा वह भी इससे स्पष्ट हो जाता है। निदान इस प्रसंग को यहीं छोड़ निवेदन यह कर दिया जाता है कि वास्तव में 'बखशी' भिक्षु का ही रूपान्तर है, और समय-समय पर देशकाल के अनुसार वह उसी प्रकार अपना लक्ष्य बदलता रहा है जिस प्रकार हमारे देश के भिक्षु, हमारे राहुल सांकृतायन जी अब भी वही सांकृतायन जी हैं जो तब अर्थात् आज से कुछ दिन पहले थे। भेष बदल गया, पर नाम वही रहा।

'बखशी' शब्द का अर्थ बताना सचमुच कितना कठिन हो गया है इसे अब आप भी देख सकते हैं; और यदि किसी तथ्य को मान बैठने के अभ्यासी नहीं हो गये हैं तो स्वयं इस कठिनाई से अब बच भी नहीं सकते शोध भी तो एक संक्रामक रोग है। जिसे लगा औरों को लगाकर आगे बढ़ा। प्रतिदिन बढ़ता रहा। घटने का नाम कैसा? जो हो, 'मीर बखशी' से लेकर चौकीदारों को वेतन बाटनेवाला तक 'बखशी' कोई न कोई भिक्षु ही का काम करता दिखाई देगा, और 'बखशी का झगड़ा' भी किसी वज्र यानी भिक्षु का ही भतीजा दिखाई देगा। निष्कर्ष यह कि भाषाशास्त्र से लेकर पुरातत्त्व तक जितना विचार किया गया है उतना इस बात का पुष्ट-प्रमाण है कि सचमुच 'बखशी' भिक्षु का ही रूपान्तर है जो तिब्बत से उइगुर और उइगुर से 'मङ्गोलों' को मिला और फिर 'मंङ्गोलों' के साथ इस देश में आया और उनकी कृपा से आज भी इस देश में बना है। वह आज यदि 'पदुमलाल बखशी' के साथ दिखाई देता है तो 'बखशी टेकचन्द' के साथ भी। किन्तु आज जो 'पदुम' को 'पद्म' नहीं कर सकता क्या वह कभी 'बखशी' को 'भिक्षु, कर सकता है? और यदि वह करे भी तो आप ही कुछ और बोल उठेंगे। है न यही बात? जो बना सो बन गया, अब उसकी चिन्ता क्या?

—:०:—

३—हिनवाना

ठीक ६ वर्ष पहले की बात है। जून सन् १९३५ ई० में अपने एक साथी के यहाँ आम के निमंत्रण पर कटावाँ गया था। कटावाँ अवध के सुल्तानपुर प्रान्त में गोमती के दायें तट पर लगभग ३ मील ऊपर एक सुहावना गाँव है। अमराइयों से भरा है। आम तो अभी टीप-टाप ही मिल रहे थे पर आनन्द की कोई कमी न थी; भरदर की आशा बलवती थी और मण्डली भी पूरी थी। साथी का वहाँ घर तो नहीं, ननिहाल था, पर ननिहाल में उनके परिवार के अतिरिक्त कोई दूसरा था भी नहीं। इससे ननिहाल का आनन्द घर के आनन्द से और भी बढ़ गया था। उनमें प्रायः सभी पढ़ने-लिखनेवाले थे और बात-बात में विवाद करनेवाले भी।

एक दिन पड़ा-पड़ा देखता क्या हूँ कि बालक 'हिनवाना' 'हिनवाना' का कोलाहल मचा रहे हैं और उसकी प्राप्ति के हेतु भाँति-भाँति की चेष्टा भी कर रहे हैं। उनकी जैसी विचित्र मुद्रा आशा और निराशा के आघातों से हो रही थी वह तो थी ही, इधर भी 'हिनवाना' की चिन्ता कम न थी।

इतने में ही एक छात्रा ने जो उसी वर्ष बी० ए० में बैठी थी घर से बाहर निकलकर पूछ ही तो दिया—पांडे जी! हिनवाना खाइयेगा? माताजी ने पूछा है।' संकट का सामना अधिक देर तक न करना पड़ा। उधर हिनवाना महाशय भी ऊँट पर लदे सामने आ गये। फिर 'ले लो' कहने में कोई अड़चन वा आपत्ति भी नहीं थी। बचाव तो फिर भी था ही, निदान कह ही तो दिया—ले लो।

'हिनवाना' का स्वागत हो गया तो उसकी निरुक्ति की चिन्ता भी हुई। मैं पहले से ही 'हिनवाना' की निरुक्ति में लीन था। परिचित वस्तु का नाम नया और कुछ विचित्र भी था, फिर मन उसकी टोह में क्यों न लगता? लगा और बुद्धि ने उसका साथ भी दिया, पर परिणाम अभी तक कुछ नहीं निकला। उधर छात्रा का प्रश्न हुआ—हिनवाना की निरुक्ति? विवश हो कहना पड़ा—अभी ठीक-ठीक पता नहीं, फिर देखा जायगा।

'हिनवाना' को 'तरबूज़' के रूप में तो बचपन से जानते थे और इसी से कभी उस पर विशेष ध्यान भी नहीं देते थे। परन्तु जब 'हिनवाना' महाशय ऊँट पर चढ़कर सामने आये और उनके मूल की जिज्ञासा हुई तब 'तरबूज़' महोदय भी विचार से भिड़ गये और अपने राम को पहेली बन गये। तरबूज को फारसी मान लेने में किसी को आपत्ति न थी। उसके अर्थ की चिन्ता भी किसी को न हुई। पर 'हिनवाना' 'पिनाक' बना रहा। अपने राम ने उसे 'हिन्दवाना' का हिन्दी अथवा अपभ्रंश रूप मान लिया और संस्कृत की अपेक्षा उसे फारसी कुल का ठहराना ही ठीक समझा।

हिन्दी-उर्दू के सङ्घर्ष में फारसी अरबी शब्दों की जो तालिका पेश की जाती है उसमें 'तरबूज़' तो कई जगह दिखाई दे जाता है पर 'हिनवाना' कहीं नहीं मिलता। जो लोग 'तरबूज़' के आधार पर यह सिद्ध करना अथवा धाक जमाना चाहते थे कि तरबूज़ मुसलमानों के साथ इस देश में आया उनका मुँह फेरने के लिए तो हमारे पास पर्याप्त सामग्री थी, किन्तु अपने सन्तोष के लिए कोई सच्चा साधन न था। यदि सचमुच 'हिनवाना' हिन्दवाना का अपभ्रंश है तो उसका संकेत क्या? क्या उसका 'हिन्द' से भी कुछ सम्बन्ध है? और उधर 'तरबूज़' भी तो 'तर' और 'बूज़' का जोड़ ही दिखाई देता है, कुछ ठोस मूल नहीं। फिर इस यौगिक शब्द का रहस्य क्या?

इतने दिन इसी उलझन में बीत गये। 'हिनवाना' के साथी भी दूर पड़ गये। पर 'हिनवाना' आज भी मन में बना रहा और रह-रहकर समय-समय पर अपनी सुधि दिलाता रहा। पर परमात्मा की कृपा से यह

देखकर कुछ शान्ति मिली कि अपनी धारणा आज साधु ठहरी और 'हिनवाना' हिन्दवाना होकर रहा। देखिये ख्वाजा गुलामुस्सकलैन साहब का 'रोजनामचा सियाहत' खुला हुआ सामने पड़ा है। उसके पृष्ठ ६३ (शम्सुल अनवार प्रेस, मेरठ, १९१२ ई०) पर कहा गया है—

'मैंने वहाँ (बाज़ार नजफ़ अशरफ़) से आड़ू और हिन्दवाना (तरबूज़) खरीदा जो इराक़ में सब जगह से अच्छा था।'

इस 'हिन्दवाना' (तरबूज़) से मुझे जो प्रसन्नता हुई उसका अनुमान वही कर सकता है जो कभी इस घाट से उतरा हो। परन्तु 'जिमि प्रति लाभ लोभ अधिकाई' की बात ठहरी। खोज में शान्ति कहाँ ?

हाँ, हमें अवश्य ही उक्त ख्वाजा साहब का कृतज्ञ होना चाहिये जिन्होंने 'हिन्दवाना' से केवल अपना ही पेट नहीं भरा अपितु हम मरुस्थल के खोजियों के लिए भी उसका पता बता दिया। कहते हैं—

'मौलवी अब्दुल रब साहब आज (१५ जुलाई १९११ ई०) मिलने आये। बक़ौल उनके इराक़ के अरबों में अजम, तुर्क, अरब और हिंदिओं का मेल है कि अमीर मुआविया ने तीस हज़ार जाटों को हिन्दुस्तान से लाकर इराक़ में आबाद किया था और भिण्डी और तरबूज़ (हिन्दवाना) इन्हीं जाटों ने यहाँ जारी किया। नीज़ अब्बासियों के ज़माना में हज़ारस जाट बुलाये गये और आबाद किये गये। और इन लोगों ने एक ज़माने बबाअस अपनी कसरत के और जंगलों में महफ़ूज़ रहने के बग़ावत भी की थी और मुद्दत में फ़रो हुई। मुझको बहुत सी अरब औरतों को देखकर ताज्जुब होता था कि इनकी शकल जाटिनों से कैसे मिलती थी। अगर कोई न बताता तो 'हरम काज़मी' में यह मालूम होता कि जाटिनियाँ अपने बच्चों को लेकर आ गयी हैं। मगर अब्दुल रब साहब की ज़बानी मालूम हुआ कि जाट वाक़ई यहाँ आबाद हैं और 'बिन्दी बाबा' वाली मसल इन्हीं से मुताल्लिक़ है कि वह सबसे अलहदा आकर झोपड़ों में रहते थे और अरबों से न मिलते थे। भिण्डी को यहाँ अब भी 'बिन्दी' कहते हैं।' (वही, पृष्ठ १२०)

'जाटों' के विषय में अभी-अभी आपने जो कुछ सुना है उससे विस्मय में पड़ सकते हैं परन्तु यदि आप किसी अभिज्ञ अल्लामा से पूछ देखेंगे तो आपकी आँख खुल जायगी और आप प्रत्यक्ष देखेंगे कि जाट इराक ही नहीं शाम तक जा डटे थे और इसलाम के विरोधियों का मुँह तोड़ रहे थे। पर यह तो दूर की बात ठहरी। यदि समय की अनुकम्पा रही तो कभी यह भी हो रहेगा। हाँ, अभी इतना जान लीजिये कि—

'मौलवी अब्दुल रब साहब निहायत माक़ूल शख़्स और कौंसिल जनरल के सरिश्तादार हैं। पहले मेरे दोस्त सैयद सज्जाद हैदर थे। मौलवी मिलने आये और ४-५ घण्टे ठहरे रहे। उनका लड़का मदरसा में पढ़ता है और उनकी कोशिश से इजाज़त हो गयी है कि ईरानी व हिन्दी भी तुर्की मदारिस में दाखिल हो सकें।' (वही पृष्ठ १२०)

हम मौलवी अब्दुल रब के इस कृपा के कारण कितने आभारी हैं हम इसे नहीं कह सकते। इसे तो वही बता सकता है जिसने कभी वहाँ की खाक छानी और हिन्दिओं की दशा अपनी आँख से देखी हो। परन्तु इतना तो सभी कह सकते हैं कि मौलवी अब्दुल रब ने 'जाटों', 'हिन्दवाना' और 'बिन्दी' का इतिहास बताकर हमारा बड़ा उपकार किया और यह प्रकट दिखा दिया कि भारत में जिस 'तरबूज़' के प्रवेश का श्रेय 'मुसलमानों' को दिया जा रहा है वास्तव में उसका दान भारत के जाटों ने 'अरब' वा इराक़ को दिया और साथ ही उसकी खेती भी कर दिखायी। 'हिन्दवाना' और कुछ नहीं इसी का साक्षी है। और 'हिनवाना' इसी का अपनापन।

'हिनवाना' की थाह तो लग गयी। अब अल्लामा शिबली के पन्थाई किस मुँह से इसे विदेशी कहेंगे और किस बूते पर इसे मुसलमानों के साथ इस देश में लायेंगे? पर नहीं, उन्हें तो सभी प्रकार से हिन्दू भारत को 'जाहिल' और 'जपाट' सिद्ध करना ही है। अतः इस 'हिन्दवाना' को तो पी जायँगे और तरबूज़ को ला सामने खड़ा करेंगे। परन्तु यहाँ भी हमारा कहना है कि मुसलमानों का यह नामकरण भी कुछ बता जाता है। हमारी समझ में 'तर' का अर्थ है नया वा आर्द्र और 'बुज' का अर्थ है, लक्षणा से बकरे का गोश्त—फारसी में 'बुज' बकरे को कहते हैं और लिखते भी तरबुज ही हैं। प्रतीत होता है कि 'हिन-वाना' के गूदे के रङ्ग और तरावट ने इस ओर संकेत किया और यारों ने इसका नाम 'तरबुज' रख दिया, नहीं तो था यह वास्तव में 'हिनवाना' ही।

जो हो, हिन्दिओं से तो हमें खुलकर यही कहना है कि तुम अपने 'मतीरा' को क्यों भूल रहे हो और संस्कृत के 'कालिन्द' को क्यों पानी में डाल रहे हो। देखो न इसलाम से कितने पहले से तुम्हारे यहाँ 'कलिन्द' विराजमान है। कोई तुम्हारा ही 'सुश्रुत' कर रहा है।

'तत्र पुष्पफलालाबुकालिन्दक प्रभृतीनि ॥२११॥

पित्तघ्नान्यनिलं कुर्युस्तथा मदिकफानि च ।
सृष्टमूत्रपुरीषाणि स्वादुपाकरसानि च ॥२१२॥

सूत्रस्थान, अध्याय ४६

उनमें पुष्पफल (कुष्माण्ड), अलाबु (तूँबी), कालिन्दक (तरबूज़) इत्यादि शाक ॥२११॥ पित्तनाशक, वातजनक, किञ्चित् कफकारक, मलमूत्र की प्रवृत्ति करने वाले, रस और विपाक में मधुर होते हैं।"

अब आप ही कहें कि ख्वाजा साहब का दावा ठीक है या अल्लामा शिबली और उनके पंथाई सैयद सुलैमान साहब का ? अर्थात् मुसलमानों ने 'तरबूज' हिन्द से लिया अथवा हिन्द को दिया। स्मरण रहे उन्हीं का 'हिन्दवाना' हमारा 'हिनवाना' होकर उनका भंडा फोड़ रहा है। उन्हें आँख भी है ? या यों ही दूर की कौड़ी ला रहे हैं ? सच है कालिह के जोगी कलींदे को खप्पर।

—:०:—

४—हिन्दी हिसाब

'हिन्दी हिसाब' शीर्षक को देखकर यदि आजकल के अंगरेजी पढ़े-लिखे बाबू, जो गणित में अपने को अफलातून समझते हैं, हमें मूढ़ समझ लें तो इसमें इनका दोष नहीं, दोष तो उस शिक्षा-प्रणाली का है जो शिष्य का धन ही नहीं विवेक भी हर लेती है और 'शोक हरना' तो दूर रहा उस पर अशोक का बोझ लाद देती है। पढ़ाई-लिखाई का अर्थ यदि कभी घोखाई-रटाई था तो आज उसका अर्थ हो गया है कताई-धुनाई। पर कातने-धुनने का क्रम कुछ ऐसा चल पड़ा है कि 'ओटाई' में ही सारा जीवन नष्ट हो जाता है और अन्त तक जीवन का कोई सूत्र हाथ नहीं आता कि जिससे अपने जीवन की चादर ठीक-ठीक बनाकर उतार सकें। इस प्रकार ज्ञान की जो तकली हाथ लगती है वह इधर-उधर घूमती तो खूब है पर कुछ सूत नहीं निकाल पाती—सुलझे को उलझाती और उलझे को सुलझाती घूमती रहती है। यदि इसी को विद्या मान लिया जाय तो उस विद्यार्थी का, जो अभी-अभी लखनऊ-विश्व-विद्यालय से काशी-विश्व-विद्यालय के समावर्त्तन संस्कार में दीक्षित होने के हेतु आया था और फलतः 'बी० एस-सी० की उपाधि से विभूषित हो ऐसा फूल उठा कि मानो ज्ञान का पक्षी पङ्ख फैलाये उड़ा जा रहा हो, ऐसी ज्ञान-गरिमा को प्राप्त कर मौन रह जाना भला कहाँ तक सम्भव था ! महिला-विद्यालय की दो अध्यापिकाओं के मध्य बोल ही तो पड़ा—'भारत के लोग जानते ही क्या थे ? अंक लिखना तो उन्हें

आता ही न था। अरबों से तो उन्होंने गणित सीखा।' एक ही सपाटे में कितना कुछ कह गया इसे लेकर क्या कीजियेगा ? प्रसंग 'हिन्दी हिसाब' का है, प्रकरण गणित का है और है भी वह बी० एस-सी०, अतः विचार भी इसी पर होना चाहिये कि वस्तुतः गणित का शिक्षक कौन है, अरब या भारत ? इसमें तो सन्देह नहीं कि उस सुबोध बालक ने पढ़ रखा है 'एरबिक न्यूमरल्स' अथवा 'एरबिक फीगर्ज' अब यदि वह अपनी बुद्धि से काम लेकर अथवा अपने अध्यापक की सीख पाकर अंक-विद्या का श्रेय अरब को देता है तो इसमें सन्देह क्या ? क्यों किसी हिन्दी की छाती जलती है ?

बात गणित ही तक न रही, प्रसंग हिन्दुस्तानी का छिड़ा था। वह अबोध ज्ञानी यह बताना चाहता था कि अरब का हम पर इतना ऋण है कि हम अरबी को छोड़ नहीं सकते। हिन्दी में था क्या कि उससे राष्ट्रभाषा का काम निकल जायेगा और उससे देश का उद्धार होगा। यह और भी 'कोढ़ में की खाज' थी। तपस्वी को पता क्या था कि स्वयं अरबी का कहना क्या है और अरब खुद इस विद्या को कहते क्या हैं। इतना ही नहीं, इस हिन्दुस्तानी परस्त को या तो इस बात का पता ही न था कि अरबी में अंक किस क्रम से लिखते तथा पढ़ते हैं या उसमें वह तत्त्व ही न था जिसे विवेक वा अपनी आँख से देखना कहते हैं। यदि वह सचमुच पढ़ा-गुना होता तो इतना अवश्य ही जान लेता कि अरब गणित में बायें से दायें चलते हैं, कुछ दायें से बायें नहीं अर्थात् जहाँ अरबी लिपि दायीं ओर से पढ़ी जाती है वहीं अरबी 'हिन्दसा' बायें ओर से। 'हिन्दसा' के प्रयोग से चकित न हों। अरब इसे 'हिन्दसा' ही कहते हैं, अरबी तरबी नहीं।

अरबों ने 'हिन्दी हिसाब' को कब और कैसे सीखा इसमें चाहे जितना विवाद हो, पर यह ध्रुव सत्य है कि उन्होंने इसे हिन्द से ही सीखा और ईमानदारी के साथ इसे कहा भी हिन्दी हिसाब ही। इसके पहले अरब का अपना मार्ग था शब्दों में अंकों को लिखने का। यह सीधा मार्ग आज भी लिखने-पढ़ने में यत्र-तत्र व्यवहार में आता है, पर गणित में अब इसकी पूछ नहीं। इसके उपरान्त अरब ने उस पद्धति को पकड़ा जो अबजद आदि पर खड़ी हैं और वर्ण पकड़ कर चलती है। इस पद्धति का प्रयोग आज भी होता है, पर गणित में नहीं, तारीख में। यह भी अरब की अपनी खोज नहीं, यूनानियों वा यहूदियों की देन है। इसका स्वरूप यह है कि 'अबजद' से १, २, ३, ४ का बोध होता है तो 'होज' से ५, ६, ७ का और 'कलमन' से २०, ३०, ४०, ५० का। अर्थात् पहले एक-एक के

क्रम से १० तक पहुँचते हैं फिर दस-दस के क्रम से १०० तक और फिर सौ-सौ के क्रम से १००० तक। इस प्रकार २८ अक्षरों के निश्चित संकेत से अपना काम निकालते हैं। गणित की इन पद्धतियों से अब हिन्दी पद्धति की तुलना करें और यह भूल न जायँ कि अरब इसे ठीक उसी क्रम से पढ़ते हैं जैसे हिन्दी। अरबी में लिखा जायगा ١٢٢٣٤ तो पढ़ा जायगा १ लाख २२ हजार से ही न कि ७ लाख ३३ हजार से। अर्थात् यहाँ अरब हिन्दी क्रम का अनुसरण करते हैं और अपनी क्रिया से भी पुकार कर सिद्ध करते हैं कि वस्तुतः वे भारत के अनुचर हैं कुछ इस क्षेत्र में उनके नेता नहीं।

किन्तु काशी-विश्वविद्यालय का स्नातक तो उलटी गङ्गा का अभिमानी है। वह भारत को अरब का अनुचर बनाता है। क्यों? कारण प्रत्यक्ष है। उसका आदि गुरु इस विद्या में अरब का शिष्य है। यूरोप ने अरब से ही इसे सीखा और फलतः इसे अरब का ही प्रसाद माना। परन्तु जब भारत के प्रसाद से उसकी विद्या का नेत्र खुला और यूरोप के जिज्ञासुओं ने अरबी का भी आँख खोलकर अध्ययन किया तब उन्हें इस ठोस सत्य का भान हुआ और इसका इतिहास जैसा-तैसा सामने आ गया, पर व्यवहार में, बोलचाल में वही नाम चलता रहा जो ऊपरी आँख के स्नातक के भ्रम का कारण हुआ।

'एरबिक न्यूमरल्स' की भांति ही 'जीरो' भी उसकी भ्रांति का कारण हुआ। जहाँ उसने सुना कि 'जीरो' 'सिफर' का रूपान्तर है वहीं इसे भी अरब की देन समझ लिया और फिर अपने आपको महापण्डित मान लिया, पर सोचा इतना भी नहीं कि इस 'सिफर' का रहस्य क्या है और किस प्रकार हमारा शून्य ही कुछ उलट-पुलट के साथ वहाँ 'सिफर' बताया जा रहा है। अचरज तो हमें यह देखकर होता है कि आज हमारे 'स्वराजी' नेता भी यही चाहते हैं कि हमारे हिन्दी बच्चों को 'सिफर' ही पढ़ाया जाय, शून्य कदापि नहीं। हम नहीं समझते कि यह अंगरेजी शिक्षा का प्रभाव है वा अरबी ज्ञान का प्रकोप। पर इतना कहे बिना तो रह नहीं सकते कि जिसे सत्य और इतिहास से तनिक भी नाता है वह 'शून्य' और 'दशमलव' को कभी छोड़ नहीं सकता। अरब 'सिफर' और 'आशारिया' के लिए भले ही शहीद होते रहें पर शोध के समय तो हमारे ऋणी ही सिद्ध होंगे। हमीं इस विद्या के दाता हैं। अरब चाहें तो अपने को प्रचारक मान लें।

'हिन्दी हिसाब' का विश्व में प्रकाश कैसे हुआ और किसने इस विद्या का उदय किया इसका पता बताना इस शास्त्र के मनीषी विद्वानों का काम

है। जैसे सामान्य जीवों के लिए तो इतना जान लेना पर्याप्त है कि अरबों के उदय-काल में यह विद्या भारत से बगदाद होती हुई अरब में पहुँची और फिर स्पेन तथा सिसली के मार्ग से यूरोप में फैली। अरब ने हिन्द से कितना सीखा, इसका लेखा लेना इष्ट नहीं, बताना तो यहाँ इतना ही है कि सचमुच अंक-विद्या का उदय भारत में ही हुआ और यहीं से इसका प्रकाश चारों ओर फैला। अरब ने इस कस्तूरी के लिए हवा का काम किया इसमें सन्देह नहीं; परन्तु जिस नाभि ने इसे जन्म दिया वह अरब की मरुभूमि में कहाँ ? इसकी सुगन्ध किस प्रकार फैली ? सो दूर जाने की आवश्यकता नहीं, पड़ोस में ही कोई सैयद कह रहा है—

'अहले अरब का सरीही बयान है कि उन्होंने इसे—९ तक के हिसाबी रक़म (हिन्दसा) लिखने का तरीका—हिन्दुओं से सीखा और इसीलिए अहले अरब इसको हिसाब हिन्दी या अरक़ाम हिन्दिया कहते हैं। अरबों से यूरोप की क़ौमों ने सीखा। इसीलिए उनकी ज़बान में इसका नाम 'अरक़ाम या आदादिया अरबिया' (एरबिक फ़ीगर्ज़) है। ठीक वह ज़माना नहीं मालूम जिसमें अरबों ने यह तरीक़ा हिन्दुओं से सीखा, मगर खयाल यही है कि सन् १५३ हि० (७७६ ई०) में सिन्ध से जो पंडित सिद्धान्त लेकर मन्सूर के दरबार में बगदाद आया था उसी ने अरबों को यह तरीका सिखाया और मेरे खयाल में सही यह है कि सिद्धान्त के, जिसका तरजुमा हुआ था, तेरहवें और चौबीसवें बाब में खुद हिसाब और रक़म है इसी के ज़रिया से यह तरीका अरबों में रायज हुआ।' (अरब व हिन्द के ताल्लुक़ात, १९३० ई०, पृ० १३३-४)।

अच्छा होता, अरब और भारत पर विचार करने वाले महात्मा लोग और कुछ नहीं तो अल्लामा सैयद सुलेमान नदवी के इस अनूठे खोजपूर्ण ग्रन्थ को देख लेते और यह भी जान लेते कि इस ग्रन्थ में जो कुछ लिखा गया है प्रायः सभी अरबी-फारसी के मूल ग्रन्थों के आधार पर ही। संयोग से इस ग्रन्थ का अनुवाद हिन्दी में भी उसी हिन्दुस्तानी एकेडमी, प्रयाग से प्राप्य है जहाँ से मूल उर्दू। निदान, कहना पड़ता है कि यदि हमारे अध्ययन का यही क्रम चलता रहा कि हम अपने पूर्वजों को मूढ़ समझने लगे और अपनी थाती को भी दूसरे की धरोहर मान बैठे तो हिन्दुस्तानी चाहे 'माधोदास के धौरहरे' से भी ऊँची उठ जाय पर उससे कभी इस देश का माथा ऊँचा न हो सकेगा। सो भी काशी के हिन्दू-विश्वविद्यालय के एक स्नातक के मुँह अपनी अज्ञानता वा कुज्ञानता का यह शंखनाद सुनकर तो अतीत 'पाहि-पाहि नाथ कत विलंब लगायो है' की ही गोहार

लगायेगा। भगवान्! भारत की अधोगति और कितनी होगी! क्या 'बढ़े अँधेरो होय' इसी के बाँटे में पड़ा है?

—:o:—

५—हिन्दू

'हिन्दू' शब्द की आज कुछ ऐसी दीन दशा है कि उसका अभिमान किसी में दिखाई नहीं देता। हिन्दू महासभा के कर्मठ वीर भी इस शब्द को कुछ बहुत प्यारा नहीं समझते और अड़चन आने पर ही उसके संकेत में लीन होते हैं, पर सच पूछिये तो कुछ दिनों पहले इस नाम का बड़ा अभिमान था।

यह इसी अभिमान का परिणाम था कि भारतेन्दु-काल में सर्वत्र एक स्वर से 'हिन्दू, हिन्दी, हिन्दुस्तान' की दिगन्त-व्यापिनी घोषणा हो रही थी और आगे चलकर 'हिन्दू पादशाही' जैसी पुस्तकों की रचना हुई। किन्तु स्वामी दयानन्द सरस्वती की खोज और सम्मति ने इस शब्द को अपने इस आसन से सहसा गिरा दिया और लोग इसे कलङ्क का द्योतक समझने लगे। यह सब कुछ चल ही रहा था कि महात्मा गाँधी का सितारा चमका और हिन्दू-मुसलिम एकता की धूम मची। उनकी कृपा से हिन्दू शब्द फिर चमक उठा और लोग फिर उसकी ओर बढ़े परन्तु यह बाढ़ भी कारणवश रुक चली। स्वराज्य अथवा देश में यह लहर उठी कि हम मुसलिम पहले और हिन्दुस्तानी बाद में हैं। तोड़ में यह उत्तर मिला कि हम हिन्दुस्तानी पहले और हिन्दू बाद में हैं। अब हिन्दू और हिन्दुस्तानी का एक नया बखेड़ा खड़ा हो गया और मुसलमान हिन्दू और हिन्दुस्तानी से कुछ दूर निकल गये। हिन्दू, हिदुस्तानी और मुसलमान का विचार होने लगा। उधर इतर प्रान्तों का 'हिन्दुस्थानी' शब्द भी अपना काम करता रहा। इस प्रकार एक ओर तो हिन्दू शब्द आर्य का प्रतिद्वन्द्वी हुआ और दूसरी ओर मुसलमान का। हिन्दुस्तानी का हिन्दुस्थानी से उसका क्या सम्बन्ध रहा, इसे राम ही जानें।

पहले पहल एक गँवार नौकर के मुँह से हिन्दुस्तानी का प्रयोग हिन्दू के अर्थ में सुनकर बड़ा आश्चर्य हुआ था, पर जब देखा कि मौलाना हाली जैसा सुपढ़ व्यक्ति सर सैयद अहमद खाँ की जीवनी 'हयात जावेद' में इस शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में कर जाता है तब माथा ठनक उठा और टटोल कर देखा तो पता चला कि बात सर्वथा साधु है। हिन्दू और हिन्दुस्तानी का अर्थ होना भी वस्तुतः वही चाहिये

जो उस गँवार के मुँह से निकलता था और जिसे परम्परा प्राप्त अर्थ कहना चाहिये।

अमेरिका के लेखक एक और उलझन पैदा कर चुके हैं अथवा यह कहिये कि अपनी उलझन को बड़ी सरलता से सुलझा चुके हैं। इतना तो सभी लोग जानते हैं कि यूरोप के भूखे घुमक्कड़ों ने 'इंडिया' की खोज में न जानें कहाँ-कहाँ सर मारा और अन्त में प्रमाद वश अमेरिका के आदि-वासियों को 'इंडियन' कह मारा। शोध तो आज उन्हें सचमुच हिन्दू सिद्ध करने जा रहा है और कहता है कि अवश्य ही उनके पूर्वज कभी भारतीय थे। जो हो, पर इतना तो निर्विवाद है कि अमेरिका के मूलवासी आज 'इंडियन' वा 'रेड इंडियन' ही कहे जाते हैं। अमेरिका के आचार्य जान-बूझ कर अथवा जैसे हो तैसे आज हमें 'इंडियन' कहना उतना उचित नहीं समझते जितना अँगरेज, और अपने ग्रन्थों में इसे 'हिन्दू' ही लिखना साधु समझते हैं। उनकी दृष्टि में भारत वा हिन्दुस्थान का निवासी मात्र हिन्दू है, कुछ केवल अमुसलिम ही नहीं। यही कारण है कि वहाँ यहाँ के मुसलमान भी हिन्दू ही कहे जाते हैं, मुसलमान नहीं।

अन्यत्र के मुसलमान तो अपने आपको अरब, तुर्क, ईरानी आदि कहते ही हैं। पता पूछने पर अपने देश का ही नाम उजागर करते हैं कुछ मजहब का नहीं। और तो और स्वयं अरब भी यहाँ के मुसलमानों को 'हिन्दी' वा हिन्दू ही कहते हैं और इन्हें सचेत कर देते हैं कि मुसलिम प्रदेशों में मुसलमान बताने का कोई अर्थ नहीं होता। वहाँ तो देश के नाम से ही व्यक्ति का नाम होता है। तात्पर्य यह कि हिन्दू शब्द भेद मिटाना चाहता है, कहीं कुछ आग लगाना नहीं।

वस्तुतः हिन्दू, हिन्दी और हिन्दुस्थानी ऐसे शक्ति भरे शब्द हैं कि उनका अधिक मुँह बन्द रखना खोज के लिए अत्यन्त कठिन है। अपने को मुसलमान कहने वाले जीव आज प्रमाद में आकर कुछ भी कहते रहें पर यह सोलह आना सच है कि वास्तव में वे भी हिन्दू हैं, हिन्दी हैं, हिन्दुस्थानी हैं। रही मुसलमान होने की बात। सो उससे उनके जन्मदेश में कोई बाधा नहीं होती। यहाँ के मुसलमान भी तो कभी कभी अपने को हिन्दी वा हिन्दुस्थानी कहते हैं, फिर चिन्ता ही क्या? संभव है कभी चेत में आकर हिन्दू भी कहने लग जायँ और इस नाम के अभिमानी बन जायँ। यदि यही विधि रही तो अमेरिका में तो उन्हें ऐसा होना ही पड़ेगा। भारत में न सही, कहीं तो उनकी आँख खुलेगी और उन्हें

सच्चाई का पता लगेगा। अमेरिका ही नहीं पड़ोसी 'इराक' भी इन्हें 'हिन्दू' कहता है। फिर इसमें विरोध कैसा?

परन्तु अब उन आर्यों को क्या कहा जाय जो बात-बात में हिन्दू शब्द से घृणा करते और जन-गणना में भी अपने आपको आर्य ही लिखाते हैं। आर्य होना तो अपना धर्म ही है पर हिटलर की भाँति आर्य शब्द का आग्रह करना ठीक नहीं। इसका सुफल तो आँखों से ओझल ही रह जायगा पर कुफल प्रत्यक्ष बोल उठेगा कि आर्य हिन्दू नहीं। हिन्दुओं की संख्या तो बस इतनी भर है। स्मरण रहे, पहले मुसलमान अहिन्दू बने, फिर बौद्ध, जैन और सिख भी अहिन्दू बना दिये गये। यहाँ तक तक तो धर्म झाँकता रहा और काम भी बड़ी निपुणता से चल गया। भारतीय टुकड़ों में बँट गये। फिर भी बात बनी नहीं अधूरी ही रह गयी। अछूत भी तो हिन्दू ही बने रहे। निदान कूट नीति का फावड़ा चला और हिन्दू की जड़ कटी। कोई आदि वासी सिद्ध हुआ तो कोई मुंडा बन गया और महात्मा गाँधी ने भी तो सब को हरिजन में समेट लिया। अब हिन्दू रहा तो कौन रहा। फिर भी सरकार न जाने क्यों और किसे हिन्दू कहती और लिखती जा रही है। समझ में नहीं आता कि उसके यहाँ हिन्दू का अर्थ क्या है। जो अपने आपको हिन्दू कहते हैं उन्हें भी अहिन्दू क्यों बनाया जाता है? देखें द्विजों में भी कितने अहिन्दू निकाले जाते हैं। हमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि इस कुशल नीति की कृपा से हमारा कोई नाम ही न रह जायगा और हम देश की भाँति खण्डों, नहीं नहीं टुकड़ों में बँटकर रह जायँगे। यह भी एक भारी 'क्रिप्स' योजना है जिसकी सोर पाताल-में खिली है और अभी प्रकट दिखाई नहीं देती पर आगे चलकर अपना फल अवश्य देखायेगी। हमें अभी से सचेत हो जाना चाहिये।

माना, शब्दों के अर्थ बदलते रहते हैं, पर इसी बदल के नाते तो कहा जाता है कि मुसलमान भी अपने आपको हिन्दू कह सकते हैं। सच बात तो यह है कि यदि बाहर के मुसलमान आते और अपने बाप-दादों की भाँति इसी भूमि के अभिमानी बन जाते तो आज चाहे जितना द्वन्द्व छिड़ता पर कहीं हिन्दू-मुसलमान का द्वन्द्व नहीं दिखाई देता। जो लोग हिन्दू-तुरुक के द्वन्द्व पर मनन करेंगे वे हमारे पक्ष में होंगे और बार-बार एक साथ यही कहेंगे कि कभी हमसे भारी भूल हुई जो हिन्दू मुसलिम-द्वन्द्व चल पड़ा, नहीं तो अपने-आप ऐसा कभी नहीं होता कि हिन्दू कलमा पढ़ते ही अहिन्दू बन जाता और अपनी जन्मभूमि को छोड़ किसी अन्य भूमि का अभिमानी बन जाता। आज ईसाई भी तो इसी भ्रम में पड़ा है

और बपतिस्मा पाते ही हिन्दू से अहिन्दू घोषित कर दिया जाता है। पर जब इतने से पूरा नहीं पड़ता तब आदि निवासी की खोज होती और सभी अन्त्यज अहिन्दू कह दिये जाते हैं। नहीं, अब हमें सचेत हो जाना चाहिये और तुरत निर्णय कर लेना चाहिये कि हम सभी भारतवासी भारतीय हैं, हिन्दू हैं। हमारा भी देशगत नाम है। हम भी देश और मजहब को अलग कर समझते और एक दूसरे को मानते आ रहे हैं। आज हम पर जो जादू-सा कर दिया गया है शोध की कृपा से उसका जाल कट रहा है और हम अपनी आँखों के सामने देख रहे हैं कि हम क्या से क्या हो गये और अभी क्या होने जा रहे हैं। सब की तो नहीं, पर अपनी तो हम यही कहते हैं कि हमें 'हिन्दू' शब्द अत्यन्त प्यारा है। हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि इसमें हमारा सारा इतिहास छिपा है। और इसकी व्याख्या भी आज ऐसी ललित की जा रही है कि इसमें अहिंसा भी ललक उठती है।

कहते हैं कि यह तो अपना शब्द नहीं, फारसी में इसका अर्थ काला, चोर, डाकू और न जाने क्या-क्या होता है, फिर हम इस कलंक को क्यों ओढ़ें? निवेदन है, आपके शिव ने विष-पान कर उसे अमृत बना दिया, उसकी हिंसा को अहिंसा में परिणत कर दिया, फिर किसी का भय क्यों? कहते हैं, यह तो धर्म का द्योतक है, हम इसे अपना कर अपना धर्म क्यों छोड़ें? निवेदन है, आपने तो अपना 'दीन' छोड़ दिया और दूसरे का मजहब (मार्ग) पकड़ा, फिर आपका इसलाम आपका साथ क्यों दे, कैसे आप में शान्ति स्थापित करे। आप अपनी प्रकृति (फ़ित्र) में आइये और अपने देश का गर्व कीजिए फिर देखिए इसलाम की कैसी सुखद वर्षा होती है और चारों ओर इसलाम फैल जाता है। आप अपने को हिन्दू कहें फिर देखें कौन आपका विरोध करता है? इतिहास पुकार कर कहता है कि 'सिन्धु' हिन्दु हो गया। हम गोहार लगाकर कहते हैं कि इस 'हिन्दु' की रक्षा करो नहीं तो सब कुछ तो मिटा अब नाम भी मिटा चाहता है। आर्य या हिन्दुस्तानी से हिन्दू कम चोखा नहीं है, फिर निराश क्यों?

—:o:—

६—भात

भात और चावल का भेद कब समझ में आ गया था, यह ठीक ठीक नहीं कह सकता। पर इतना जानता अवश्य हूँ कि काशी-विश्वविद्यालय में

भर्ती होने के पहले कभी भात को चावल नहीं कहता था और यदि उस समय कोई भात को चावल कहता तो संभवः उसे एक अजीब आदमी समझकर अपने साथियों में उसका नाम धरता। परन्तु हिन्दू-विश्वविद्यालय के छात्रावास में पहुँचते ही देखता क्या हूँ कि यहाँ 'भात' का नाम नहीं। सभी पढ़े-लिखे शिष्ट बाबू उसे चावल कहते हैं और यदि कहीं मुझ जैसे गँवार के मुँह से 'भात' निकल आया तो सभी बनाने लगते हैं। कोई प्रान्तीय भाई कहता है तो कोई पुरबिया और कोई तो और भी आगे बढ़ कुछ और ही कह जाता है। निदान विवश हो मैंने भी भात को चावल कहना सीख लिया। अभ्यस्त होकर फिर जब अपनों में पहुँचा तब फिर एक नई कठिनाई का सामना करना पड़ा। भला कोई भी समझदार आदमी हमारे चावल को भात कैसे समझ लेता! हमारी दशा तो कुछ 'मुगली बानी' सी हो गई। लोग कहने लगे—'काबुल गये मुगल होइ आये, बोलैं मुगली बानी। आब आब कहि पूता मरि गै, खटिया तर रह-पानी।' परमात्मा की कृपा समझिए कि कहीं भात के लिये चावल कहने से मरने की नौबत नहीं आई पर विश्वास कीजिए कि इसके कारण उपहास बहुत हुआ।

सोचता और बार-बार सोचता रहा कि लोग भात को भात क्यों नहीं कहते; जब चावल और भात का भेद प्रत्यक्ष है और भात बना भी शुद्ध 'भक्त' से है तब लोग इससे घृणा क्यों करते हैं। समझ में तो कोई कारण न आ सका पर समाधान के लिये यह मान लिया कि पछाहियों में भात का प्रचार बहुत कम है और वे खाते भी फरहरा भात ही हैं इसीलिये शायद भात को भी चावल ही कहते हैं। परन्तु यह बात कुछ जँची नहीं। इसकी चिन्ता किसी न किसी रूप में बराबर बनी रही। निदान एक दिन उर्दू सिखाने की पोथी हाथ लगी। उसमें बताया गया था कि टकसाली उर्दू में भात नहीं बोलते। गँवार लोग ही चावल को भात कहते हैं।

बात ठीक थी। सचमुच गँवार लोग ही भात बोलते हैं। पढ़े लिखे आजकल के बाबू तो भात को भी चावल ही कहते हैं। पर देखना यह है कि क्या गँवारों के अपना लेने के कारण ही हमें भात को भात न कह केवल चावल कहना चाहिये और बाहर के सभ्य संसार को यह दिखा देना चाहिये कि हमारे यहाँ सिद्ध-चावल के लिये कोई शब्द नहीं? कल्पना की बात नहीं। यह ठोस सत्य है कि अब इस प्रकार के मुग्ध खोजी खोज में लग गए हैं कि अपने बाप-दादों अथवा ठेठ हिन्दुस्तानियों को निपट जपाट साबित कर दें। रोटी की चर्चा तो पुरानी हो चली है। वह विदेश

की देन मानी जा चुकी है ! अब भात की बारी है। एक अरबी के लेखक ने अपनी अरबी किताब में उसका प्रयोग भी कर दिया है फिर उसे अरबी भाषा का शब्द कह देने में किसी 'सत्यप्रेमी भाई' को क्या सन्देह है। जब ढोल फ़ारसी है तब भात अरबी क्यों नहीं ? नहीं, भूल गया। भात मतरूक जो है। गँवारों का शब्द होने के कारण वह अरबी या तुर्की नहीं बताया जा सकता। अस्तु उसको बाहरी होने का कोई लोभ नहीं।

हाँ, तो सोचना यह है कि हम इस भात को क्या करें। पढ़े-लिखे शिष्ट बाबुओं की भाँति इसे 'मतरूक' और टाट बाहर कर दें अथवा अपने पूर्वजों की भाँति इसे अपने भात-भोज में रहने दें। हम तो दूध-भात के पले जीव ठहरे। हमें तो दाल-भात भाता है। हम तो दुःख और समवेदना के साथ दूध का भात खाते और उल्लास तथा उमंग के साथ भत्तवानि के लिये डट जाते हैं। फिर भला हम किसी के भात को कैसे छोड़ सकते हैं ? भात तो हमारे सुख का साथी और दुःख का मित्र है। हम तो उसे निषिद्ध ठहराने से रहे। वैसे आपकी आज्ञा !

आप कुछ भी कहते रहें। इस मामले में सरकार भी हमारे साथ है। भत्ता खानेवाले हाकिम तो इस 'भात' से भाग नहीं सकते। उनका 'भत्ता' और कुछ नहीं, कम्पनी सरकार अथवा लार्ड क्लाइव का भात ही है। जैसे आज चाय-पानी के लिये कुछ मिल जाता है वैसे कभी पान-पत्ता के लिये कुछ मिल जाता था। फिर यदि लार्ड क्लाइव ने भूखे बंगालियों को कुछ 'भत्ता' दे दिया तो इसमें आश्चर्य ही क्या ? उसे तो उनको मोड़कर कसी प्रकार अपनी ओर मिलना था। हाँ, बाबा चाणक्य का 'भक्त', ही आज सरकार का 'भत्ता' है। इस नीति-निपुणता का श्रेय उसी को है।

भात को अब तो हम छोड़ नहीं सकते चाहे कल के पढ़े-लिखे बाबू हमें मूढ़ ही गिनते रहें। पर क्या आप जानते हैं कि इन अधपढ़ बाबुओं को गर्व काहे का है ? यही न कि ये उन मुगलों की गुलामी में हैं जो भात को चावल कहते और इतना भी नहीं समझते कि भात चावल से भिन्न हुआ करता है। भला विवेकशील पुरुषों में उनकी गणना क्या होगी जो भात और चावल को एक ही समझते हैं ! मुगल ऐसा समझ सकते थे, क्योंकि उनकी कच्ची प्रतिभा ने कभी भात जैसी पक्की चीज का स्वप्न भी न देखा था। यदि भात और चावल में वही भेद होता जो रोटी और गेहूँ में दिखाई देता है तो मुगल भात को भूलकर भी चावल न कहते। पर हमारे अनुकरणप्रिय बाबुओं को इसकी सुधि कहाँ ! उन्हें तो

'शीन क़ाफ़' की दुरुस्ती के लिये अपनी जीभ को नाना नाच-नचाना ही भाता है और उन्हीं शब्दों को अपनाना हितकर जान पड़ता है जो उनके उस्ताद की उर्दू टकसाल में हैं; फिर चाहे वे कितने ही भ्रामक, अध-कचरे और निकम्मे ही क्यों न हों। जो लोग शब्दों की परख रखते और भाव एवं अर्थ को समझते हैं वे तो भात को चावल मानने से रहे, चाहे हमारे देश के मुगली बाबू बराबर उसे चावल कहते ही रहें। समझ में नहीं आता कि जिस भात का इतना व्यापक व्यवहार है वही कल की उर्दू के लिये मतरूक क्यों हो गया ! क्या उर्दू 'गँवारों' से घृणा कर आसमानी बूते पर भारत की राष्ट्रभाषा बन सकती है और हम उसे प्रसन्न करने के लिये अपने जीवन-व्यापी प्रिय शब्द को छोड़ सकते हैं ? हमें उर्दू से द्वेष नहीं, अपने देश से प्रेम है। हम उर्दू के तोष के लिये अपने देश को जपाट नहीं बना सकते। हमारा भात-भोज सभी देशभाषाओं से है। उर्दू के लिये हम कुजात सही।

—:०:—

७—ज़रर नर्मीं से हूँ

'ज़रर नर्मीं से हूँ' का अर्थ आपकी समझ में आ गया हो तो सचमुच आप दैवी पुरुष हैं। अपनी समझ में तो इसका अर्थ अभी तक न आ सका। बात यह है कि 'ज़रर नर्मीं' कुछ ऐसे योग में उत्पन्न हुआ है कि यह किसी की समझ में आना ही नहीं चाहता। 'ज़रर नर्मीं' में 'ज़रर' को समझ लेना तो कोई कठिन काम न था। कारण यह था कि न जाने कितने दिनों से कितनी बार यह शब्द 'ज़रर' शदीद' और 'ज़रर खफ़ीफ़' के साथ कानों में पड़ चुका था। पहले जो इस रूप में सुना करता था वही अब इस रूप में दिखाई दे रहा था। निदान 'ज़रर शदीद' और 'ज़रर खफ़ीफ़' में से 'ज़रर' को निकाल लिया और उसका अर्थ भी समझ लिया 'चोट'। किन्तु इस चोट से कुछ काम न चला। लोग परस्पर जब भिड़ जाते हैं और जीभ की जगह लाठी से काम लेने लगते हैं तब हृदय का रक्त न सही, शरीर का खून बाहर निकल आता है, और वीरों को विवश कर देता है कि अब डाँडमेंड पर जो कुछ न हो सका वह सरकार के दरबार अर्थात् कचहरी में हो। निदान घायल के साथ कुशल लोग अस्पताल में पहुँचते और उससे अधिक उसकी चोट पर ध्यान देते हैं ? प्राणपण से प्रयत्न करते हैं कि डाक्टर 'ज़रर शदीद' लिखे। उधर विपक्षी इस चिन्ता

में लीन होते हैं कि चाहे जैसे हो तैसे डाक्टर 'ज़रर शदीद' को भी 'ज़रर खफ़ीफ़' ही लिखे। सारांश यह कि 'घायल' के लिये 'ज़रर शदीद' का होना भले ही अहितकर हो पर उसके 'वाद' के लिये 'ज़रर शदीद' का होना ही कल्याणकर है। 'ज़रर शदीद' और 'ज़रर खफ़ीफ़' की यह लीला नित्य प्रति किसी न किसी रूप में गाँवों में चलती ही रहती है। अतः इससे परिचित हो जाना सामान्य बात थी। इधर कुछ पढ़-लिख लेने से 'ज़रर' और 'शदीद' किंवा 'खफ़ीफ़' का अलग-अलग अर्थ भी समझ लिया। परंतु तो भी 'ज़रर नर्मी' के 'नर्मी' का अर्थ समझना कठिन रह गया।

निदान 'नर्मी' को पहले तो 'नम' के साथ देखा और समझ लिया कि यह वही 'नर्मी' है जिसे लोग 'तरी' के रूप में देखते हैं। यहाँ की 'आबोहवा' 'नम' है को तो स्कूल क्या मदरसों के छोटे-छोटे बच्चे भी घोटते हैं और कभी-कभी 'खुश्की' के साथ 'नर्मी' को भी सुन लेते हैं पर जानते नहीं कि 'नर्मी' क्या है। तो फिर जब 'नर्मी' के अर्थ की चिन्ता हुई तो स्मृति में कुछ न रहा और इधर-उधर बुद्धि दौड़ाने के अतिरिक्त और कोई उपाय भी नहीं सूझा। 'नर्मी' के कारण 'ज़रर' भी कुछ और ही रूप में सामने आने लगा। अच्छा, तो पूरा वाक्य था—

"जो कि मुझको भी इस बात का फ़ख्र हासिल है कि मैं भी उसी आफ़तावे आलमे ताब के ज़रर नर्मी से हूँ इस लिये अपने नसबनामा को भी उसके साथ शामिल कर देता हूँ।"

बात 'नसबनामा' अर्थात् 'वंशवृत्त' की थी, अतः विचार उठा कि कहीं 'नर्मी' 'मनी' तो नहीं है। मनी (वीर्य) का अर्थ आया नहीं कि चित्त 'ज़रर' पर जा पहुँचा और फिर वहाँ से ऐसा कुछ पलटा खाया कि और अधिक किसी बात पर दौड़ लगाने की उसकी बान छूट सी गई। पर करता क्या? किसी प्रकार 'ज़रर नर्मी' का किला तो तोड़ना ही था। निदान कोप को हाथ में लिया। 'जन्नत' के 'ज' को लिया पर 'ज़रर' का भेद न मिला। 'ज़मीन' के 'ज़' को देखा पर वहाँ भी उसका भेद न खुला। 'अज़दहा' के 'ज़' को लिया पर उससे होता ही क्या? वह तो दीन की भाँति वहीं कहीं पड़ा था। ज़ालिम' के 'ज़' पर धावा बोल दिया पर मुँह की खाने के सिवा वहाँ भी कुछ हाथ न लगा। निदान 'ज़ाकिब' के 'ज़' की शरण ली पर वहाँ से भी टका सा उत्तर मिल गया। रहा 'ज़रर' का 'ज़' सो पहले से ही अपना कोप खाली कर चुका था। और किसी प्रकार 'ज़रर नर्मी' का भेद खोलना

नहीं चाहता था। फलतः हार मान कर, हाथ पर हाथ रख कर, चुप-चाप कुछ सोचने सा लगा। हानि जो थी।

सोचा उर्दू की माया अपार है। उसमें कुछ का कुछ पढ़ा जाना आसान है। कहते भी हैं—लिखे मूसा पढ़े खुदा। जब उर्दू में यही बात है तो क्यों न इस रूप में भी इसे कुछ देख लिया जाय। क्या पढ़ने में क्या अर्थ निकला, इसे कौन कहे। परन्तु सच मानिए सच्चा 'इलहाम' तो तब हुआ जब इसे 'जरों में' पढ़ा। 'ज़रों में' पढ़ना था कि सारा संकट दूर हुआ और इसका अर्थ भी तुरन्त समझ में आ गया। 'के ज़रर नमीं से हूँ' अब चट 'ज़रों में से हूँ' बन गया और 'ज़रों' का अर्थ जान लेना कुछ कठिन न था।

पूछ सकते हैं कि 'ज़रों में' को 'ज़रर नमीं' लिखा ही क्यों गया? क्या ऐसी गोलमाल के बिना काम ही नहीं चल सकता। निवेदन है--उर्दू की लीला अपार है। वहाँ 'घड़ी की दूकान' के 'घड़ी के दो कान' जो हो जाते हैं। उसी सूत्र को यहाँ भी क्यों नहीं देखते? लिखा गया था 'ज़रों में' पढ़ा गया 'ज़रर नमीं'। 'ज़रों में' लिखने में पहली गड़बड़ी तो यह रही कि 'में' को मूल से मिला कर लिखा गया था। अर्थात् विभक्ति वा प्रत्यय को भी मूल शब्द का अंश बनाया गया था—ठीक वैसे ही जैसे हिन्दी में भी कुछ लोग 'ज़रोंमें' ही लिखना साधु समझते हैं, कुछ 'ज़रों में' नहीं। दूसरी विपदा यह पड़ी कि उर्दू में 'वाव' और 'रे' और 'दाल' में बहुत थोड़ा भेद होता है। सर पतला रहा तो 'रे' मोटा वा चिपटा हुआ तो 'दाल' और गोल हुआ तो 'वाव' बन जाता है। उर्दू की यही वह कला है जो इस 'ज़रर नमीं' में विराजमान है। 'जरों में' पहली भूल तो यह हुई कि वाव को रे पढ़ा वा लिखा गया और दूसरी यह कि 'ज़रों' के नून को पढ़ा गया 'में' के साथ और इस प्रकार 'में' बन गया 'मीं'। यद्यपि अँगरेजों की कृपा से उर्दू में भी 'में' और 'मीं' अर्थात् 'ए' और 'ई' की मात्रा अथवा किसी शब्द के अन्त में लिखने का स्पष्ट विधान हो गया है पर मध्य में उसका वैसा पक्का विधान नहीं हो पाया है। 'मे' और 'मी' का लिखा जाना तो ठीक है पर एराब के बिना 'में' और 'मीं' का विभेद करना असम्भव। और 'एराब' के साथ उर्दू का लिखा जाना दिन को बरस बनाना है जो किसी को पसन्द नहीं। तो फिर हुआ यह कि 'ज़रों' का नून आ गया 'में' में और बन गया 'नमीं'। इधर जब यह लीला हो रही थी तब 'ज़रों' की भी उधर पक्की गत बन चुकी थी। ज़रों का लिखा जाना कठिन

न था। 'ज़ाल' 'रे' और वाव से 'ज़र्रा' बन सकता था, किन्तु तभी जब रे पर बिना धड़ का सर अथवा 'तशदीद' लगाते। परन्तु उर्दू की सरपट लिखाई में ऐसा कोई करने क्यों लगा ? अपना समय बचा संसार भाड़ में जाय यही तो उर्दू की शिक्षा है ? फिर इसका रोना क्या ?

हाँ, तो अन्त में करना यही है कि उर्दू की लिपि के विषय में जो कुछ सुना था उसकी लिपि में देखा उससे भी कुछ अधिक और भोगा तो इतना कुछ अधिक कि उसका कहना भी असम्भव है—किसी के जी में उतार देना तो और भी असम्भव। फिर इस देश का दुर्भाग्य तो देखिए कि हम उसी 'ज़रर नमीं' के भूखे हैं और इसी के भोग से सर्वत्र एकता वा समता स्थापित करना चाहते हैं, और जानते इतना भी नहीं कि न तो उर्दू का ज़र्रा ही कभी मेल का पाठ पढ़ाता है और न कभी स्वयं उर्दू ही। फिर भी जो लोग इसी 'ज़रर नमीं' अथवा 'उर्दू' पर लट्टू हैं परमात्मा उन्हें चाहे जो दे पर सरकार तो स्वराज्य के नाम पर सदा लड्डू ही देगी, जिसे उर्दू के खरे अरबीभक्त सदा लिखें-पढ़ेंगे लद्दू ही। कारण कि उनकी पाक लिपि में 'ड' है ही नहीं, और हिन्दी बनने के लिये 'दाल' को 'डाल' क्यों करें, और क्यों 'खुदा' के दाल पर कुछ और खड़ा कर उसकी एकता को नष्ट करें। रही हिन्दुस्तानी लोगों की बात। सो उनकी आप जानें। उनके 'तरका' (दाय) को कौन छीन सकता है ? हाँ, उनकी आँख खोलना विवेक का काम है। सो 'ज़रर नमीं' से आ नहीं सकता। 'ज़र्रा में' ढूँढ़ देखिए। स्यात् कुछ हाथ लगे। अन्यथा विफल प्रयास तो हैं ही।

—:o:—

८—विद्यापति की अबहट्ट रचना

समस्त हिन्दी संसार के सामने आज विद्यापति के विषय में जो एक ही प्रश्न रह गया है वह है विद्यापति शृङ्गारी थे अथवा भक्त ? पता नहीं इस ग्रन्थि को सुलझाने की इतनी आवश्यकता किसी को क्यों पड़ी और क्यों सभी लोग इसी में लीन हो गये ? विद्यापति कोई झोंक के कवि तो थे नहीं कि मन में जब जो आया लिख डाला और चट यह घोषित किया कि हमने तो जो कुछ लिखा है किसी दिव्य शक्ति की प्रेरणा से ही, अपने आप अथवा अपनी आत्म-शक्ति की स्फूर्ति से कुछ भी नहीं। शृङ्गार के क्षेत्र में उनकी क्या स्थिति थी और किस प्रकार वे शृङ्गार को भक्ति का साधन मानते थे आदि प्रश्नों पर विचार करने के

लिए यहाँ लेखनी नहीं उठी है। नहीं, यह तो किसी दूसरी कलम का काम है। हमारी लेखनी तो यहाँ लिखना चाहती है कि भाषा के क्षेत्र में भी विद्यापति को बहुत कुछ कहना है और कहना है इस ढंग से कि हम जनपद-आन्दोलन की क्षण-लीला में ही मग्न होकर अपनी शक्ति का अपव्यय न करें प्रत्युत यह भी देख लें कि किस प्रकार हमारे पूर्वज अपनी जन्म किंवा देशभाषा के साथ ही एक शिष्ट किंवा राष्ट्रभाषा को भी अपनाते और उसमें अपने देश का पुरुषार्थ तथा राष्ट्र का शौर्य अंकित कर जाते थे। स्मरण रहे विद्यापति का कहना है—

"पुरिसत्तेण पुरिसओ नहि
पुरिसो जम्ममत्तेन।
जलदाने नहु जलओ नहु जलओ
पुञ्जिओ धूसो",, (कीर्तिलता १-६)

कितना सटीक और मर्मभेदी वाक्य है। सचमुच पुरुषार्थ से ही पुरुष पुरुष बनता है कुछ पुरुष का नाम पा लेने से नहीं। जलद जल-दान के कारण ही जलद कहा जाता है कुछ धूम के समूह के कारण नहीं। भला जब धर्म ही न रहा तब उससे उस धर्मी का नाता ही क्या रहा! वास्तव में नाम की बड़ाई तो तब, जब उसके अनुसार काम भी हो।

अच्छा, तो उस पुरुषार्थी के लक्षण क्या हैं? इसे भी ध्यान से सुनें। विद्यापति आप ही बताते हैं—

"सो पुरिसओ जसु मानो
सो पुरिसओ जस्स अज्जने सत्ति।
इअरो पुरिसाआरो पुच्छविहुनापसू होइ"
(कीर्तिलता, पृ० ६)

हाँ हाँ, सचमुच वही पुरुष है जिसका मान हो और है वस्तुतः वही पुरुष जिसमें कुछ अर्जन की शक्ति हो। जिसमें मान नहीं और जिसमें उपार्जन की शक्ति नहीं वह भी यदि पुरुष है तो पुरुष-चोला-धारी पुच्छ-विहीन पशु हम किसे कहें? आप कहने को कह सकते हैं कि 'पुच्छविहुना पसू होइ' तो भर्तृहरि की छाया है। है और अवश्य है। और हो भी क्यों नहीं? परन्तु क्या कह सकते हैं कि इसमें प्राण नहीं? नहीं, इसमें प्राण ही नहीं ओज भी है, शील ही नहीं शक्ति भी है। है तो रहे, पर हमें करना क्या चाहिये? विद्यापति का कवि नहीं, विद्यापति की भृङ्गी किस उल्लास से कहती है—

"वीर पुरुष कइ जम्मिअइ
नाह न जम्पइ नाम ।
जइ उंच्छाहे फुर कहसि
हओं आकण्डन काम,," (कीर्तिलता)

भृङ्गी भी कितनी कुशल है । क्या किसी की नर्टी इतना उत्साह बाँधेगी ! कहती है यदि कहीं कोई वीर पुरुष उत्पन्न हो गया है तो उसका गुणगान क्यों नहीं करते हो ? क्या नहीं जानते कि वीर पुरुष का काम है काम करना पर उसका नाम करना काम है भृङ्ग का । परन्तु स्मरण रहे, यदि उत्साह हो और सचाई के साथ कहने की लालसा भी हो तो तुरन्त कहो हमें उसको सुनने की उत्कट इच्छा भी है । फिर क्या था, जब श्रोता और वक्ता दोनों ही अपने-अपने अंग में समर्थ हों तब किसी कथा प्रबन्ध के बन जाने में सन्देह क्या ? कीर्तिलता बनी पर हमारा जपाट कान धीरे-धीरे उससे दूर होता गया । माना कि आज भी कहीं कहीं से वह छपती और कहीं-कहीं के पाठ्यक्रम में वह रखी भी जाती है, पर उसे पढ़ते कितने लोग हैं ? और यदि यदा-कदा उसको पढ़ भी लेते हैं तो उसे समझते कितने लोग हैं ? और यदि समझते भी हैं तो उसके अनुसार उस पर आचरण भी कितने लोग करते हैं ?

अच्छा, तो विद्यापति ने किया क्या जो यहाँ उनका ऐसा नाम ले रहे हो ? देखो न, उनका कथन क्या है । कहते और किस विवेक से कहते हैं—

"तिहुअन खेत्तहि काजि
तसु किक्तिवल्लि पसरेइ ।
अक्खर खम्भा रम्भ जो
मञ्चो बन्धि न देइ",, (वही, पृ० ४)

बात है भी यही । लता किसी का सहारा चाहती है । सहारे से ही वह फैलती है । तो क्या कीर्ति के विषय में भी यही नहीं कहा जा सकता ? कौन नहीं जानता कि यदि वीर पुरुषों की कीर्ति को कुशल कवि के अक्षर का स्तम्भ न मिले तो वह इधर-उधर बिखर कर पृथिवी में ही लोटती रह जाये ! तो क्या प्रत्येक साक्षर व्यक्ति का यह अचूक कर्तव्य नहीं है कि वह वीर पुरुष की कीर्ति के प्रसार के लिए अपने अक्षर को खम्भा बना दे और उसे ऊपर उठाकर दिगन्त में फैला दे ? आप कहेंगे, हाँ, होना तो चाहिये । परन्तु कुशल कवि के द्वारा । भला कोई विद्यापति

आपके इस शुभ कथन का विरोध क्या कर सकता है ? किन्तु तो भी उसका विश्वास है—

"सुअण पसंसइ कव्य मझु,
दुजन बोलइ मन्द ।
अवसओ विसहर बस बमइ,
अमिज विमुक्क इचन्द",, (वही)

ठीक है। जिसकी जैसी प्रकृति है वह वैसा करेगा ही। फिर दुर्जनों की दुष्ट आलोचना से विचलित हो काव्य का प्रशस्त मार्ग छोड़ क्यों दिया जाय ? सज्जन लोग तो अवश्य ही उस काव्य की प्रशंसा करेंगे जिसका इष्ट मंगलप्रद होगा। निदान ध्रुव विश्वास है कि—

"बालचन्द बिज्जा बइभासा,
दुहु नहि लग्गइ दुजन हासा।
ओ परमेसर हर शिर सोहइ,
ई णिचइ नाअर मन मोहइ।" (वही)

सच है। जिसमें कान्ति है वह अल्प होने पर भी शिरोधार्य है। दुष्टों का उपहास भला उसका क्या बिगाड़ सकता है ? किन्तु चिन्ता तो यह हैं—

"का परबोधओ कमण यणावओ
किमि, नीरस मने रस
लए लावओ," (वही)

जो हो, स्थिति तो यह है—

"जइ सुरसा होसइ मझु भासा,
जो बुज्झिह सो करहि
पसंसा," (वही)

जानकार रस जानता और उसे सराहता भी है। तो बस अपनी भाषा में रस होना चाहिये। रस होने पर रसिकों का अभाव नहीं। देखिये न—

"महुअर बुज्झइ कुसुम रस,
कव्वकलाऊ छइल्ल ।
सज्जन पर उअआर मन,
दुज्जन नाम मइल्ल",, (वही)

मधुकर पुष्परस का महत्त्व जानता है तो कहाँ से आकर उसका मधु-पान करता है इसी प्रकार रसिक रस जानता है तो किसकी काव्य-कला का समादर नहीं करता ? परन्तु ध्यान देने की बात है कि—

"सक्कय वाणी बहुअ न भावइ,
पाऊँअ रस को मम्म न पावइ।
देसिल बअना सब जन मिट्ठा,
तँ तैसन जम्पओ अवहट्ठा",

हाँ, आज संस्कृत में तो यह रचना हो नहीं सकती। कारण यह कि वह बहुतों को भाती नहीं। प्राकृत में भी नहीं, क्योंकि उसमें रस की अभिव्यक्ति ठीक-ठीक नहीं हो सकती। रही देशी बोली, तो उसका क्या कहना है ? वह तो सभी लोगों को प्यारी है। परन्तु कीर्ति प्रसार के लिए वह ठीक नहीं। कारण, उसका क्षेत्र सीमित है, देशमात्र ही, तो फिर किया क्या जाय ? यही न कि सबके कल्याण और कीर्ति प्रसार के लिए चुना जाय 'अवहट्ट' को जो देशी नहीं पर वैसी ही।

विद्यापति ने अभी जो कुछ कहा है उसको ध्यान से सुनें और यह विचार कर देखें कि आज उनके जन्मदेश में हो क्या रहा है और कौन किस प्रेरणा से करने क्या जा रहा है। स्मरण रहे, विद्यापति ने एक ही साथ चार भाषाओं का उल्लेख किया है—

१ संस्कृत, २ प्राकृत, ३ अवहट्ट और ४ देशी। इनमें से उन्होंने प्राकृत में भी कहीं कुछ लिखा तो इसका हमें पता नहीं, परन्तु हम भली-भांति जानते हैं कि विद्यापति ने संस्कृत में भी रचना की है और की है 'अवहट्ट' में भी। 'देसिल बअना' की तो बात ही क्या ? उनके गीति-काव्य से कौन अभागा अनभिज्ञ है ?

अस्तु विचारने की बात है कि विद्यापति ने कीर्ति-विस्तार के निमित्त 'अवहट्ट' को क्यों चुना ? क्या वे किसी 'संस्कृत' या 'देशी भाषा' को नहीं चुन सकते थे ? निवेदन है, चुन सकते थे पर सके नहीं। कारण प्रत्यक्ष है। संस्कृत जनता की वाणी नहीं रही। वह बहुतों को नहीं रुचती। रुचे भी कैसे ? सबकी समझ में सहसा आती भी तो नहीं। रही देशी बोली, सो सन्देह नहीं कि वह सबको प्यारी है, साथ ही 'मिट्ठा' भी। मीठ में तीव्रता कहाँ ? पर यहाँ तो लक्ष्य है पुरुषार्थ के प्रसार का, कीर्ति के विस्तार का। निदान साधन भी वैसा ही होना चाहिये। फलतः विद्यापति को चुननी पड़ी 'अवहट्ट'।

'अवहट्ट' के इतिहास में पैठने का यह अवसर नहीं। संक्षेप में यह वस्तुतः है 'अपभ्रष्ट' का रूपान्तर और है 'अपभ्रंश' का वाचक भी। विद्यापति के समय में 'अपभ्रंश' की क्या स्थिति थी, इसका कुछ बोध तो इसी से हो जाता है। विद्यापति 'अपभ्रंश' को 'संस्कृत' और 'प्राकृत' की कोटि में नहीं रखते। नहीं, इनको तो 'अवहट्ठ' और 'देशभाषा' में कोई विशेष भेद नहीं दिखाई देता। जनता देशभाषा के साथ ही 'अपभ्रंश' को भी अपनाती है। निदान जनता की दृष्टि से विद्यापति को अपभ्रंश को अपनाना पड़ा और कीर्ति-प्रसार के लिए उसी में 'कीर्तिलता' की रचना करनी पड़ी। 'कीर्तिलता' ही नहीं 'कीर्तिपताका' भी इसी में फहरी और इसी में राजा शिवसिंह का वृत्त भी जमा। तात्पर्य यह कि विद्यापति ने अपने समय में अपभ्रंश के महत्त्व को समझा और उसी प्रकार उसमें कीर्ति-रचना की जिस प्रकार आज भी अनेक देशवासी कर रहे हैं। परन्तु तो भी आज यत्र-तत्र सुनाई दे रहा है उन्हीं की जन्मभूमि में यह निनाद भी कि अब 'देसिल बअना' में ही सब कुछ हो, नागरी अथवा 'अवहट्ट' में कुछ भी नहीं, और यदि हो भी तो खान, पान और बात-व्यवहार के रूप में ही, काव्य और विचारों के व्यापार में नहीं। सारांश यह कि अभी 'देसिल बअना' के उपासकों को यह समझना शेष रहा कि चिर-काल से इस विशाल देश में एक ऐसी भी भाषा चली आ रही है जो 'देसिल बअना' न होते हुए भी है 'देसिल बअना' के तुल्य ही। हम आज उसी भाषा को उसी नाते नागरी कहते हैं। नागरी जहाँ की देश भाषा नहीं वहाँ की नागर भाषा तो है ही। आज से नहीं, कल से नहीं, कितने दिनों से नागरी इस देश की नागर-भाषा रही है। आज आप उसे खड़ी बोली कहें, हिन्दी कहें, हिन्दुस्तानी कहें, जो चाहें सो कहें पर कृपया टाँक लें कि वह नागर अपभ्रंश के रूप में समस्त देश की राष्ट्र-भाषा थी और इसी व्यापकता के कारण विद्यापति ने उसमें 'कीर्तिलता' तथा 'कीर्तिपताका' की रचना की, कुछ किसी अन्य कारण से नहीं।

—:o:—

६—मुसलमानों में कृष्ण

हिन्दी साहित्य में मुसलमान कवियों ने जो योग दिया। उसका अधिकांश अभी तक प्रकाश में नहीं आ सका तो भी जो कुछ सामग्री हमारे सामने है उसके आधार पर हम यह कह सकते हैं कि मसनवी-कवियों के अतिरिक्त जिन कवियों ने मुक्तक रचना की है उनका ध्यान

BVBSSMV

अधिकतर कृष्ण ही पर अवलम्बित रहा है। 'रसखान' कृष्ण प्रेम में कितने ओत-प्रोत थे, उनकी दृष्टि में उस 'लकुटी और कामरिया' का क्या महत्त्व था, आदि ऐसी बातें हैं जिन पर विचार करना यहाँ अभीष्ट नहीं है ; उससे तो थोड़ा-बहुत सभी लोग परिचित हैं। रसखान की भाँति ही न जाने कितने यवन कृष्ण के साकार स्वरूप पर मुग्ध थे। उनको हम भारतीय कृष्ण-भक्त-परम्परा से भिन्न नहीं कर सकते। इन भक्त कवियों के अतिरिक्त बहुत से इस ढंग के भी मुसलमान कवि हिन्दी में उत्पन्न हुए हैं जो रीतिकाल के कवियों की भाँति कृष्ण के उपासक थे। अर्थात् उनके काव्य का सीधा लक्ष्य कृष्ण-प्रेम न था, तो भी वे कृष्ण तथा राधा के प्रेम का निदर्शन किया करते थे। हमारी समझ में इन कवियों को भक्त कहना, अथवा उनके आधार पर कृष्ण के स्वरूप का निरूपण करना ठीक नहीं। हाँ, उन कवियों को अवश्य ही इनसे भिन्न गिनना चाहिये जो 'गजराज' के साथ ही कभी-कभी 'पद-रज' भी ढूँढ़ते-फिरते थे। अथवा कृष्ण के अवतार को हँसी समझ कर भी 'प्रहलाद' के रक्षक के उपासक बन गये थे और इसी बहाने उसकी कृतियों का गान कर लेते थे।

कहने की बात नहीं कि उक्त कवियों की काव्यधारा बहुत कुछ सीधी है। उसमें कृष्ण का जो वर्णन है वह व्रज के कृष्ण से भिन्न नहीं है। कबीर तथा उनके पीछे चलने वाले निर्गुनिये संतों तथा सूफ़ियों में कृष्ण का कीर्तन कुछ विलक्षण ढंग से होता रहा। फिर भी वह उसी परम्परा-गत साकार काव्य-धारा में खप जाता है। इसका कारण संभवतः यही है कि इस ढंग के सूफ़ी स्वच्छन्द थे। उनको कुरान और हदीस का बन्धन किसी प्रकार मान्य न था। सो इन कवियों के विषय में लोग प्रायः लिखते ही रहते हैं; अतः हम इनको उन्हीं के लिए छोड़ कर, कुछ उन कवियों की विचार-परम्परा अथवा काव्य-धारा का परिचय देना चाहते हैं, जिनकी उपेक्षा हम बहुत दिनों से करते आ रहे हैं। जिन मुसलमान कवियों ने काव्य को धर्म से अलग समझा, अथवा मुहम्मद साहब की ओर से विरक्त होकर कृष्ण पर अनुरक्त होना अनुचित नहीं समझा, उनका मार्ग सीधा था; परन्तु जिन लोगों का विचार था कि मुहम्मद साहब की कृपा के बिना उनका उद्धार सम्भव नहीं। उनके लिए साकार कृष्ण को अपनाना अति कठिन था। परन्तु तो भी वे कृष्ण पर अनुरक्त थे और उनको अपनाना भी चाहते थे।

मुसलमानों के यहाँ भगवान् संसार में स्वयं नहीं आता, वह तो

804

[stamp]

अपना दूत भेजता है। इन दूतों से उसका क्या लगाव होता है, यह मन्तव्य नहीं। हमें तो केवल इतना ही कहना है कि हमारे सूफ़ियों ने मुहम्मद साहब के आदि रूप को 'नूर' के रूप में ही लिया। हम लोगों की धारणा है कि परमात्मा की कला का आविर्भाव संसार में होता है, सूफियों का कहना है कि नूर का। इस 'कला' और 'नूर' का सजातीय सम्बन्ध है। सूफियों का विश्वास है कि निराकार की उपासना के लिए नूर की उपासना अनुचित नहीं, एक प्रकार से परम आवश्यक है। साधन के रूप में वे अपने पीर (गुरु) को भी उपास्य बना सकते हैं। इस प्रकार इन सूफियों को भी कृष्ण का आधार मिल ही गया। वस्तुतः नूर खुदा से भिन्न नहीं है और श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् भी हैं। अस्तु, कृष्ण की उपासना परमात्मा और अवतार के रूप में भी उचित समझी गई और उनके सम्बन्ध में कविता होने लगी। इस प्रकार अरब और भारत, मक्का और ब्रज एक हो गए। इस कथन की पुष्टि में हम एक आधुनिक सूफ़ी कवि का यह पद अवतरित करते हैं और पाठकों से अनुरोध करते हैं कि वे कृपा कर इस पर पूर्ण ध्यान दें और देखें कि इसका रहस्य क्या है सो वह पद है—

ब्रज में आये श्याम कन्हाई।
परगट होत भयो उँजियारा, सरग ने सीस नवाई।
तारे गगन से देखन आये सर पर छत्र चढ़ाई॥
गोद ले जग में फिराई॥
वैकुंठ से चीर बसंती, देवतन लाय सिलाई।
सात बेर नहलाइ साँवरो, अंग सुगन्ध लगाई॥
बसन मिल-जुल पहनाई॥
अवगुन नास भये गुन कैसे, धरम ने सबद सुनाई।
मूरत आप टूट फूट गई, मन्दिर माथ झुकाई॥
कहा मोहिं, शुद्ध बनाई॥
'सूफ़ी' पिया से होरी खेलन को, सुन्दर रूप बनाई।
अबीर गुलाल लिये कुंजन माँ, चितवन आस लगाई॥
मिली कब दरस कन्हाई॥

'सूफ़ी शाह' ने यह पद मुहम्मद साहब की शान में लिखा है। कह नहीं सकता, कितने हिन्दू इसको इस रूप में स्वयं समझ सकते हैं। इसमें एक बात जो हमको खटक सकती है वह मूर्त्तियों का टूटना-फूटना है, और जो मुसलमानों को उभाड़ सकती है वह 'देवतन' है। किन्तु

वास्तविक बात यह है कि हम 'सूफी शाह' के मन्तव्य को समझने में असमर्थ हैं। यदि ऐसा न होता तो हिन्दुओं और मुसलमानों में व्यर्थ की मुठभेड़ क्यों होती। मूर्तियों का महत्त्व तभी तक है जब तक परमात्मा का साक्षात्कार नहीं होता। अभीष्ट दर्शन में, कृष्ण के प्रकट होने पर कौन ऐसा अधम प्राणी है जो मूर्तियों की पूजा करेगा, उनको फेंक फाँक कर कृष्ण से, (श्याम कन्हाई से) लिपट न जायगा। फिर मन्दिर की आवश्यकता ही क्या रही ? अब तो—

"दर दिवार दरपन भयो, जित देखत तित तोर।
काँकर पाथर काँकरी भयो आरसी मोर ॥"

फिर भी वह मूर्त्तियों का खंडन नहीं करेगा, उसको तो वह अब भी आरसी की भाँति देखता रहेगा। मुसलमानों को देवता इस लिये खटक सकता है कि हिन्दू बहुत से देवताओं की उपासना करते हैं, पर यह तो उन्हीं के फरिश्ते हैं। फिर वैमनस्य कैसा ? मुहम्मद साहब भी कृष्ण के रूप में स्मरण किये जा सकते हैं। कृष्ण के उपासक कवियों का एक मुख्य विषय निर्गुण का खंडन भी रहा है। गोपियाँ उद्धव को किस ढंग से आड़े हाथों लेतीं और भाँति-भाँति से उनकी गति बनाती हैं, आदि बातों को 'भ्रमरगीत' के पाठक भलीभाँति जानते हैं। मुसलमानों को प्रायः लोग निर्गुणवादी समझते हैं। कहा जाता है कि कबीर को निर्गुण मुसलमानों से मिला था। हो सकता है; किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि बहुत से सूफियों ने कृष्ण के इस अंग पर भी कविता की है। जिस कवि का नाम ऊपर लिया गया है, उनके पीर 'पूरन' के नाम से कविता करते थे। उनकी एक रचना है—

ऊधो हरि की सुरत समानी।
प्रेम का अच्छर पढ़त सखीरी, सगरी मत बौरानी।
पोथी पुरान की सुधि नहिं आवत, पढ़-पढ़ सगरो भुलानी ॥
हेरत हेरत पायउँ जो हरि का, हमहीं आप हेरानी ॥
अवगुन की चिंता नहिं 'पूरन' साहब हमरो दानी ॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि मुसलमानों, विशेषतः सूफियों में कृष्ण-प्रेम अब भी कुछ न कुछ बना ही है। उनकी दृष्टि में कृष्ण परमात्मा, अवतार, पैगम्बर, व्यक्ति विशेष, सब कुछ रहे हैं। उनका इसलाम इतना शांति प्रिय रहा है कि उनको कभी कृष्ण का विरोध नहीं करना पड़ा। प्रत्युत उनके अनुपम सौन्दर्य पर उन्हें मुग्ध कर दिया। ब्रजभूमि में भी उनको वही दिव्य दर्शन मिला जिसके लिए वे मक्का जाया करते थे।

प्रकट रूप वा बाहरी आँख से देखने से अवश्य ही मक्के और ब्रज में बड़ा अन्तर है, किन्तु हृदय की आँख अथवा भीतरी दृष्टि से देखने से उनकी अद्वैतता आप ही सिद्ध है। 'काबा' और 'बुतखाना' एक ही चिराग़ से रोशन हैं। फिर इतना विभेद कैसा ? क्या ही अच्छा होता कि सभी भारतीय मुसलमान भी कृष्ण का जन्मोत्सव 'सूफ़ी शाह' के शब्द में आज भी मनाते और यह सिद्ध कर दिखाते कि प्रत्येक जाति तथा देश के पैगम्बर किंवा नबी भिन्न-भिन्न होने पर भी मूलतः एक ही हैं। क़ुरान का यही तो अनुपम आदेश है। रही मूर्तिभंजन की प्रबल इच्छा, 'सों मूरत आर टूट-फूट गई, मन्दिर माथ झुकाई' में आप ही विराजमान है। उसके लिये किसी को पत्थर तोड़क बनने की क्या आवश्यकता ?

—:o:—

१०—कबीर और गो-वध

गो-वध से कबीर कितने दुःखी थे, इसके कहने की आवश्यकता नहीं। 'इसलाम' नहीं-नहीं 'तुरुक' की यही बात उनको अति खटकती थी। कबीर इसे धर्म नहीं, स्वार्थ समझते थे। देखिए, किस परिताप से कहते हैं—

तुरकी धरम बहुत हम खोजा, बहु बजगार करै ए बोधा।
गाफिल गरब करैं अधिकाई, स्वारथ अरथि बधैं ए गाई॥
जाकौ दूध धाइ करि पीजै, ता माता कौं बध क्यूँ कीजै।
लहरैं थकैं दुहि पीया खीरो, ताका अहमक भखै सरीरो॥

बेअकली अकलि न जांनहीं, भूलें फिरैं ए लोइ।
दिल दरिया दीदार बिन, भिस्थ कहाँ थैं होइ॥

(अष्टपदी रमैणी)

कबीरदास ने किस भाव से, किस वाणी में किससे क्या कहा है, इसके कहने की आवश्यकता नहीं। आवश्यकता तो यह जानने की है कि कबीर गोमाता के कितने ऋणी हैं और गोभक्षक को कितना मूढ़ समझते हैं। मूढ़ नहीं कृतघ्न! गौ का जो उपकार हम पर है, उसे न मानना-उलटा उसके शरीर को चट कर जाना कबीर को नहीं जँचता। उन्हें तो इसमें विवेक का सर्वथा अभाव ही दिखाई देता है। होते-होते यहाँ तक हो जाता है कि कबीर को फटकार कर कहना पड़ता है—

जब नहिं होते गाइ कसाई। तब बिसमल्ला किनि फ़ुरमाई।

(वही)

परन्तु क्या कभी इतने से ही किसी कर्मठ उदार की तृप्ति हो सकती है ? नहीं, निदान उनको इतना और भी खुलकर कहना पड़ता है—

कबीर चाल्या जाइ था, अंगै मिल्या खुदाइ ।
मीराँ मुझसौं यौं कह्या, किनि फुरमाई गाइ ॥

(कबीर-ग्रंथावली पृ० ५२)

कबीर के प्रश्न का उत्तर वही दे सकता है जो 'मीरा' हो। तो भी हमें भी इतना कह देने में कोई संकोच नहीं होता कि गो-वध किसी इसलाम का अङ्ग नहीं। कुरान मजीद में जो गोबलि की कथा है, उससे सिद्ध होता है कि यह आज्ञा अल्लाह ने भोजन के लिए नहीं दी थी। उसने तो यह कहा था कि यदि हत्यारे का पता लगाना है तो ऐसी दिव्य गौ की बलि दो और उसके एक टुकड़े से उक्त शव को मार दो। इससे वह आप ही उठ पड़ेगा और अपने हत्यारे का पता बता देगा। अल्लाह ने ऐसा क्यों कहा, इसे अल्लाह ही जान सकता है; तथापि इसके आधार पर दृढ़ता से यही कहा जा सकता है कि यह गो-वध का विधान नहीं प्रत्युत किसी हत्यारे को ढूँढ़ निकालने का उपाय है। यहाँ इतना और भी स्पष्ट रहे कि अल्लाह ने जहाँ उक्त गौ का लक्षण बताया है, वहाँ इतना और भी स्पष्ट कर दिया है कि वह गाय न तो इतनी सधाई हुई हो कि जमीन जोते और न खेती सींचे, भली-चंगी एक रंग की उसमें कोई धब्बा तक न हो।'

(सूरत बकर, आयत ७१)

स्मरण रहे, वह गाय ऐसी न हो कि उससे खेती-बारी का काम होता हो। तो क्या अल्लाह का यह आदेश यों ही भुलाया जा सकता है ? इससे कबीर की वाणी का तुक नहीं बिठाया जा सकता ? पेट-पूर्ति के लिए गाय का बध किस कुरान में आया है ? यही तो कबीर जानना चाहते हैं। नहीं, कबीर तो और भी आगे बढ़ते और बड़े ढङ्ग से पूछ जाते हैं—

हम गोरू, तुम ग्वार गुसाईं, जनम-जनम रखवारे ।
कबहु न पार उतार चरावहु कैसे खसम हमारे ?

(क० ग्रं० पृ० ३३०)

हम भला, इसका उत्तर दे सकते हैं ? पर हम जानते इतना अवश्य हैं कि कबीर 'ग्वार' कृपा से 'पार' हो गये और सिखा गये हमें 'गोपाल' का गो-पालन भी। कहिये करेंगे ?

—:०:—

११—बीबी फातिमा की आह

न जाने कौन सी ऐसी बात थी कि सुन्नी होते हुए भी मलिक मुहम्मद जायसी ने बीबी फातिमा को सराहा है और अपनी अजीब रचना 'आखिरी कलाम' में उन्हें कुछ ऐसा स्थान दे दिया है कि बरबस पूजने को जी चाहता है। जायसी सुन्नी थे, इसमें तो सन्देह ही नहीं। कारण कि 'आखिरी कलाम' में भी उन्होंने 'चारि मीत' का ही उल्लेख किया है और 'पदमावत' में तो उनका स्पष्ट निर्देश भी कर दिया है। 'आखिरी कलाम' में केवल इतना कह दिया है कि—

"चारि मीत चहुँदिसि गजमोती,
माँझ दिपै मनु मानिक-जोती।"

परन्तु पद्मावत में उनका ब्योरा इस प्रकार दिया है :—

"चारि मीत जो मुहँमद ठाऊँ;
जिन्हहिं दीन्ह जग निरमल नाऊँ।
अबाव कर सिद्दीक सयाने,
पहिले सिदिक दीन वइ आने।
पुनि सो उमर खिताब सुहाए,
भा जग अदल दीन जो आए।
पुनि उसमान पँडित बड़ गुनी,
लिखा पुरान जो आयत सुनी।
चौथे अली सिंह बरियारू,
सौंह न कोऊ रहा जुझारू।
चारिउ एक मतै, एक बानां,
एक पंथ औ एक सँधाना।"

अतएव उनके विषय में यह कदापि कहा नहीं जा सकता कि शीआ होने के नाते उन्होंने बीबी फातिमा का पक्ष लिया है और प्रमोदवश सुन्नियों को चिढ़ा दिया है। यदि कहा जा सकता है तो यही कि इस विवाद में उन्होंने किसी का पक्ष न ले सत्य अथवा अपने उदार हृदय का साथ दिया है और भरसक शीआ-सुन्नी मन-मुटाव को मिटाने का प्रयत्न किया है। सम्भव और अधिक सम्भव है कि इसी पुण्य-प्रेरणा से प्रेरित होकर ही उन्होंने 'आखिरी कलाम' की रचना चटपट कर दी हो और 'जायस' को आधुनिक 'लखनऊ' होने से बचा लिया हो। जो हो, शीआ-सुन्नी

प्रश्न की दृष्टि से 'आख़िरी कलाम' महत्त्व की रचना है और बीबी फ़ातिमा का प्रसङ्ग तो उसका प्राण ही है।

कयामत के दिन मुहम्मद साहब को कितना कष्ट उठाना पड़ेगा और अन्त में सभी पैगम्बर उम्मत के मोक्ष का सारा भार किस प्रकार उनके ऊपर ठेल देंगे आदि का वर्णन कर जायसी लिखते हैं—

पुनि रसूल जैहैं दरबारा,
पैग मारि मुइँ करब पुकारा।
तैं सब जानसि एक गोसाईं,
कोइ न आव उमत के ताईं।
जेहि सौं कहौं सो चुप होइ रहै,
उमत लाइ केहु बात न कहै।
जो दुख चहसि उमत कहँ दीन्हा,
सो सब मैं अपने सिर लीन्हा।

'गोसाईं' मुहम्मद साहब के इस विनय से प्रसन्न न होगा बल्कि—

पुनि रिसाइ कै कहै गोसाईं,
फ़ातिम कहँ ढूँढ़हु दुनियाईं।
का मोसौं उन झगर पसारा,
हसन हुसैन कहाँ को मारा?

ढूँढ़ते ढूँढ़ते हार कर फिर मुहम्मद साहब दरबार में प्रार्थना करेंगे—

ढूँढ़ि जगत दुनिया सब आएउँ,
फ़ातिम-खोज कतहुँ ना पाएउँ।
आयसु होइ, अहैं पुनि कहाँ,
उठा नाद हैं धरती महाँ।

अंत में मुहम्मद साहब के हार जाने पर—

आयसु होइहि दैउ कर, नैन रहैं सब झाँपि।
एक ओर डरैं मुहम्मद, उमत मरैं डरि काँपि॥

नतीजा यह होगा कि—

उट्ठिन बीबी तब रिस किहैं,
हसन-हुसेन दुवौ सँग लिहैं।

और 'गोसाईं' से प्रार्थना की—

तैं करता हरता सब जानसि,
झूँठे फुरै नीक पहिचानसि।

हसन हुसन दुवौ मोर बारे,
दुनहु 'यज़ीद' कौन गुन मारे।
पहिले मोर नियाव निबारू,
तेहि पाछे जेतना संसारू।
समुझें जीव आगि महँ दहऊँ,
देहु दादि तौ चुप कै रहऊँ।
नाहिं त देउँ सराप रिसाई,
मारौं आहि अर्श जरि जाई।

बीबी फातिमा के इस विकट प्रकोप को देखकर अल्लाह भी प्रकुम हो जायगा और आज्ञा देगा कि—

जौ बीबी छाड़हिं यह रोखू,
तौ मैं करौं उमत कै मोखू।
नाहिं त घालि नरक महँ जारौं,
लौटि जियाइ मुए पर मारौं।
अगिन-खंभ देखहु जस आगे,
हिरकत छार होइ तेहि लागे।
चहुँ दिसि फेरि सरग लै लावौं,
मँगरन्द मारौं, लोह चटावौं।

तेहि पाछे धरि मारौं, घालि नरक के काँठ,
बीबी कहँ समुझावहु, जौ रे उमत कै चाँट॥

फिर तो विवश होकर—

पुनि रसूल तलफत तहँ जैहैं,
बीबिहि बार बार समुझैहैं।
बीबी कहब 'घाम कत सहहू,
कस ना बैठि छाँह रहहू।
सब पैगम्बर बैठै छाँहा,
तुम कस तपौ बजर अस माँहा?'
कहब रसूल 'छाहँ का बैठौं?
उमत लागि धूपहु नहिं बैठौं।
तिन्ह सब बाँधि घाम मह मेले,
का भा मोरे छाहँ अकेले?

तुम्हरे कोह सबहि जो मरै,
समुझहु जीउ, तबहि निस्तरै।
जौ मोहिं चहौ निवारहु कोहू,
तब विधि करै उमत पर छोहू।'

'पिता' के संकट को देखकर पुत्री का दिल पिघल आयेगा, तो रसूल भी उसकी 'मया' को देखकर प्रसन्न हो जायेंगे और समझ लेंगे कि अब सारा काम बन जायगा। अल्लाह की आज्ञा होगी—

अब फातिम कहँ बेगि बोलावहु,
देइ दाद तौ उमत छोड़ावहु।

बीबी फातिमा के आ जाने में अब देर क्या होगी। उनका जी तो पहले से ही उदार हो गया होगा। निदान—

फ़ातिम आइ कै पार लगावा,
धरि यज़ीद दोज़ख महँ गवा।
अंत कहा, धरि जान से मारै,
जिउ देइ देइ पुनि लौटि पछारै।
तस मारब जेहि भुइँ गड़ि जाई,
खनखन मारै लौटि जियाई।
बजर-अगिन जारब कै छारा,
लौटि दहै जस दहैं लोहारा।

मारि मारि बिसियावैं, धरि दोज़ख महँ देब।
जेतनी सिस्टि मुहम्मद, सबहि पुकारै लेब॥

बीबी फातिमा के प्रकृत प्रसंग में ध्यान देने की बात यह है कि मलिक मुहम्मद जायसी रसूल की ओर से उसके लिए कोई चिन्ता नहीं करते बल्कि स्वयं अल्लाह को उसकी चिन्ता हो जाती है और वह विवश करता है कि रसूल पहले उसको बोध लें तब फिर 'उम्मत' की पैरवी करें आखिर अल्लाह क्यों ऐसा करता है और स्वयं रसूल ऐसा नहीं करते? याद रहे हसन-हुसेन का वधिक 'यज़ीद' भी एक मुसलिम ही था। वह भी रसूल को मानता-जानता था। उन्हीं के पीछे वह भी सिरात का पुल पार कर चिर बिहिश्त का भागी होना चाहता था। पर अल्लाह को 'करनी' का भी खयाल रखना था और रसूल की सन्तति की भी सुधि लेनी थी। रसूल के नाते न सही, एक इंसान के नाते तो उसका इंसाफ का हक था! निदान, जायसी ने बीबी फातिमा का पक्ष लिया और प्रत्यक्ष दिखा दि

कि उसकी भी एक हस्ती है। यदि पट्टीदार मुसलमानों ने पशुबल के जोम में यहाँ उनकी तथा उनकी प्रिय सन्तान की दुर्गति की तो वहाँ उनकी सुनवाई अवश्य होगी और पापी को पापाचार का दण्ड जरूर मिलेगा। 'यज़ीद' को बार बार 'दोज़ख' की आग में जलना तथा नाना प्रकार का नरक भोग करना पड़ेगा। रही औरों की बात। जायसी इस विषय में मौन हैं। 'उमर-अली' और 'आयशा-फातिमा' के द्वन्द्व में पड़कर जायसी अपनी प्रतिभा को नष्ट नहीं करते लेकिन कयामत के दिन 'फातिमा' को इतना उठा देते हैं कि उनकी ज्योति के सामने किसी की ज्योति नहीं टिकती। उनको अनायास ही वह गौरव नसीब हो जाता है जो किसी दूसरे के भाग्य में बदा ही न था। शीआ आज चाहे जितना तबर्रा पढ़ें पर सुन्नी मलिक मुहम्मद जायसी का यह तबर्रा बराबर 'ईद का चाँद' बना रहेगा और यदि रसूल की उम्मत इस पर गौर करेगी तो ज़रूर ही उसकी आँख खुलेगी और रसूल के नाते न सही, इन्सान के नाते बीबी फातिमा की दाद देगी और उनके बैरियों का पक्ष कदापि ग्रहण न करेगी। साथ ही 'चारमीतों' में से किसी एक के लिए बाकी तीन की उपेक्षा भी भरपूर न करेगी। आमीन।

—:०:—

१२—पपइया रे पिव की वाणि न बोल

मीरां जैसे कोमल नारी-हृदय से जो यह टीस उठी है इसका कारण यह है। 'पिव की वाणि' अथवा पी की पुकार से उसे इतनी चिढ़ क्यों? अच्छा सुनिये, मीरां स्वयं समझाती है—

पपइया रे पिव की वाणि न बोल।
सुणि पावेली विरहणी रे,
थारो रालैली पाँख मरोड़।
चाँच कटाऊँ पपइया रे,
ऊपरि कालर लूण।
पिव मेरा मैं पीव की रे,
तू पिव कहै सू कूण।
थारा सबद सुहावणा रे,
जो पिव मेला आज।
चाँच मढ़ाऊँ थारी सोवनी रे,
तू मेरे सिरताज।

प्रीतम कूँ पतिया लिखूँ,
कउवा तूँ ले जाइ।
जाइ प्रीतम सूँ यूँ कहै रे,
थांरि बिरहणि धान न खाइ॥
मीरां दासी ब्याकुली रे,
पिव-पिव करत बिहाइ।
बेगि मिलो प्रभु अंतरजामी,
तुम बिनि रह्यो ही न जाइ॥
(मीराँबाई की पदावली, सम्मेलन संस्करण)

मीरांबाई के इस पद पर थोड़ा विचार करें तो मीरां की आँख मिले और उसके हृदय को आदर्श किंवा दर्पण। मीरां भी 'विरहिणी' है पर सामान्य विरहिणी नहीं, तभी तो वह पपीहा से कहती है कि देख पी की ध्वनि मत सुना। कारण यह है कि तेरी यह वाणी यदि किसी 'विरहिणी' के कान में पड़ गई तो जानता है परिणाम क्या होगा? अच्छा, भली-भाँति जान ले कि और कुछ नहीं तो तेरे पंख तो एक भी नहीं रह जायेंगे। क्यों? इन्हीं के बल पर तो इतना फुदकता है। सोच ले फिर तेरी स्थिति क्या हो जायेगी। रही मेरी बात। सो मुझे तो इतना ही कहना है कि फिर कभी 'पी' का नाम न लेना। देख सीधी सी बात है कि जो जिसका होता है वही उसका नाम लेता है, सो तेरा 'पी' से नाता क्या जो 'पी' 'पी' की रट लगा रहा है? मैं अपने पी का नाम लेती हूँ। यदि देखा-देखी तू भी ऐसा करेगा तो जान रख, तेरी चोंच कटा लूँगी और उस पर थोड़ा नमक भी छिड़का दूँगी। जानते हो किस लिए? हाँ, इसी लिए कि तुम भी दूसरे की व्यथा समझ सको। परन्तु देखो तुम्हारा शब्द तो बहुत ही भा रहा है। कहीं पी के आने की बात तो नहीं कह रहे हो? और यदि ऐसा हुआ तो बस समझ लो कि तुम मेरे सर-आँखों पर हो, और पुरस्कार भी कुछ अच्छा ही मिलेगा। चोंच सोने से मढ़ा दी जायेगी और तुम्हारी शोभा बढ़ जायेगी।

पपीहा केवल इसी दण्ड और किसी ऐसे लोभ से वश में आ जायगा यह तो नीति की बात न हुई। नीति तो कुछ और आगे बढ़ती है और उसकी प्रेरणा से राजकुमारी मीरां को किसी अन्य पक्षी से कहना पड़ता है कि देख इस पी पुकारी पापी पपीहा को यहीं रहने दे। मैं अपने प्रियतम को एक पत्रिका लिख रही हूँ। और देख, हे काग! तू ही इसे प्रियतम के पास ले जा और अपनी ओर से इतना और भी कह दे कि तुम्हारी

बियोगिनी वियोग के मारे अन्न नहीं खाती। प्रियतम जानता है कि तू आमिषभोजी है। तू अपना भोजन छोड़कर जो ऐसा सन्देश ले जा रहा है तो अवश्य ही किसी उदार मानव के लिए ऐसी कठोरता क्षम्य नहीं। जो तुम ऐसा करोगे तो पुरस्कार भी कुछ ऐसा मिलेगा जिसको तुम समझ नहीं सकते। बस जाकर यही कहो कि चरण दासी मीरां 'पी' 'पी' कहकर मर रही है। बस जाकर दर्शन दो। तुम तो सबके जी की जानते हो फिर विलम्ब क्यों करते हो?

'कौवे' ने क्या किया, इससे प्रयोजन नहीं, पर 'पपइया' पर इस छूछी फटकार-का कोई प्रभाव न पड़ा। ऐसा कहने में कोई आपत्ति नहीं। उसकी 'पी' की रट न गयी और एक दिन फिर वही कांड मचा। मीरांको इसकी सुधि न रही और तरस खाकर कहा—

रे पपइया प्यारे कब को बैर चितार्‌यो।
मैं सूती छी अपने भवन में,
पिय - पिय करत पुकार्‌यो।
दाझ्यौ ऊपर लूण लगायो,
हिवड़ो करवत सार्‌यो॥
उठि बैठो वा बृच्छ की डाली,
बोल - बोल कंठ सार्‌यो।
मीरां के प्रभु गिरिधर नागर,
हरि चरणां चित धार्‌यो॥८३॥ (वही)

मीरां इसके अतिरिक्त भला और कर ही क्या सकती थी। कहना और करना और होता है। मीरां सोचती ही रही उधर 'पपइया' ने जला कर नमक छिड़क दिया और अपनी पी की तीखी पुकार से तो हृदय को चीरकर दो टूक ही कर दिया। पपइया कुछ भी करता रहा पर मीरां का जी तो अब हरि के चरणों में लग गया। फलतः—

'सुनी हो मैं हरि आवन की आवाज।
म्हैल चढ़े चढ़ि जोऊँ मेरी सजनी,
कब आवै महाराज॥
दादर मोर पपइया बोलै,
कोइल मधुरे साज।
उमँग्यो इन्द्र चहुँदिशि बरसै,
दामणि छोड़ी लाज॥

धरती रूप नवा-नवा धरिया,
इन्द्र मिलण कै काज।
मीरां से प्रभु हरि अविनासी,
वेगि मिलो महाराज ॥१४१॥" (वही)

'पपइया' की वाणी कैसी बढ़िया काज कर गयी इसे कोई इस पद में पढ़ देखे। मीरां की 'पपइया' से कैसी पटी इसे भी कोई टाँक ले। पर 'दामणि छोड़ी लाज' को देखकर मीरां क्या करे और क्या न करे! नित्य-प्रति आँखों के सामने ही 'धरती रूप नवा-नवा धरिया' को देखकर और सो भी 'इन्द्र मिलण कै काज!' मीरां कुछ भी करे पर उसकी प्यास तो मिटती नहीं दिखाई देती। कारण—

'रमैया बिन नींद न आवै।
नींद न आवै बिरह सतावै,
प्रेम की आँच ढलावै॥
बिन पिया जोत मंदिर अँधियारो,
दीपक दाँय न आवै।
पिया बिन मेरी सेज अलूनी,
जागत रैण बिहावै॥
पिया कब रे घर आवै।
दादुर मोर पपीहा बोलै,
कोयल सबद सुणावै।
घुमट घटा ऊलर होइ आई,
दामिन दमक डरावै॥
नैन भर लावै।
कहा करूँ कित जाऊँ मोरी सजनी,
वेदन कूण बुतावै॥
बिरह नागण मोरी काया डसी है,
लहर-लहर जिव जावै।
जड़ी घस लावै।
को है सुखी सहेली सजनी,
पिया कूँ आन मिलावै।
मीरां कूँ प्रभु कबर मिलोगे,
मन मोहन मोहि भावै॥
कबै हँसकर बतलावै" ॥७६॥ (वही)

लाज छोड़ने वाली दामिन भी जब दमक कर डराने लगी तब तपस्वी मीरां को फिर चातक की सूझी। निदान वही उसका आदर्श बन गया और मीरां को तड़प कर कहना पड़ा—

'सखी मेरी नींद नसानी हो।
पिय को पंथ निहारतं,
सिगरी रैण बिहानी हो॥
सब सखियन मिलि सीख दई,
मन एक न मानी हो।
बिनि देख्यां कल नाहिं पड़त,
जिय ऐसी ठानी हो॥
अँगि-अँगि व्याकुल भई,
मुखि पिय-पिय बानी हो।
अन्तर वेदन विरह की,
वह पीड़ न जानी हो॥
ज्यूँ चातक घन कूँ रटै,
मछरी जिमि पानी हो!
मीरां व्याकुल विरहिणी,
सुधि-बुधि बिसरानी हो॥८७॥"

तो क्या तपते-तपते मीरां ने सचमुच जान लिया कि 'पिय' सबका है और सब 'पिय' के हैं और किसी को 'पिय' कहने से रोका नहीं जा सकता? उत्तर हाँ के अतिरिक्त और क्या हो सकता है? तो भी स्मरण रहे कि—

'रे साँवलिया म्हारे आज,
रँगीली गणगोर, छै जी।
काली पीली बदली में बिजली चमके,
मेघ घटा घनघोर, छै जी॥
दादुर मोर, पपीहा बोलै,
कोयल कर रही सोर, छै जी॥
मीरां के प्रभु गिरिधर नागर,
चरणों में म्हारों जोर, छै जी॥१४३॥"

बस, इसी जोर के नाते मानव, मानव बना और मीरां, मीरां। नहीं तो प्रकृति के कण-कण का पुरुष से वही नाता है जो मीरां ने अपना समझ लिया था, और जिसके कारण बेचारे 'पपइया' पर फटकार पड़ी

थी और समझ आने पर फिर वह भी 'प्यारा' हो गया था। मीरां! तू धन्य है जो इस 'जोर' को भलीभाँति आजमाया और अपनी मधुर वेदना से अन्त में इसे सच्चा कर दिखाया, अन्यथा आज तुझ 'कुलनासी' का नाम कौन लेता!

—:०:—

१३—धनुष बान लेउ हाथ

ब्रज की लीला भूमि में पहुँचकर तुलसीदास माधव की मनोहर मूर्ति पर मुग्ध तो हुए, पर उनका मस्तक नत न हो सका। उन्होंने कहा—

"का बरनौ छबि आज की भले बने हो नाथ।
तुलसी मस्तक तब नवै धनुष बान लेउ हाथ।"

तुलसीदास ने हाथ में धनुष-बान धारण करने की प्रार्थना क्यों की? उनको मुरली की सुरीली तान से संतोष क्यों न हुआ? इसका कारण जान लेना कुछ कठिन नहीं है। तुलसीदास ने स्पष्ट कहा है कि उनका मस्तक तभी झुक सकता है जब भगवान् भक्तों के पालन, दुष्टों के दलन और धर्म के संस्थापन के लिए कटिबद्ध हों। गीता में स्वयं कृष्ण भगवान् ने कहा था—

"यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्म संस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥"

तुलसीदास ने भगवान् से यही तो कहा कि आप धनुष-बान हाथ में लें, अपने वचन का पालन करें और भक्तों पर अपनी निष्ठा का रंग चढ़ा दें।

बात यह थी कि भारतीय शक्ति भावना जिस विशेषता को लेकर आगे बढ़ी थी उसका लोप हो चला था। अवतार धारण करने का मुख्य उद्देश्य था धर्म की 'संस्थापना' साधुओं का 'परित्राण' और दुष्टों का 'विनाश'। पर कृष्ण भक्तों ने विशेषतः वल्लभियों ने उसके रूप को केवल माधुर्य में बदल दिया और गीता के ज्ञान को सौत की आँख से देखने लगे। एक ने तुलसीदास से कहा भी था कि राम तो सामान्य अवतार हैं। उनकी उपासना उतनी फलप्रद नहीं हो सकती जितनी पूर्णावतार कृष्ण की। तुलसीदास ने उसके उत्तर में कितने विनीत भाव से कहा था—

"जौ जगदीस तो अति भलो जौ महीस बड़ भाग।
तुलसी चाहत दिवस निसि राम चरन अनुराग ॥"

इस प्रकार तुलसीदास ने उस सम्प्रदाय विमूढ़ से जिस तथ्य का संकेत किया था उसका तात्पर्य यह था कि भगवान् के राम या कृष्ण के रूप में अंशतः या पूर्णतः अवतरित होने से कुछ हमारा उद्धार तो नहीं होता। अरे हमारा मङ्गल तो हमारी उस भावना पर निर्भर होता है जो हमें अपने उपास्य देव की ओर अनन्य भाव से ले जाती है। भगवान् के स्वरूप और अवतार की छानबीन में भक्त नहीं पड़ते। उनको तो उसके नाम से परम सत्ता का साक्षात्कार हो जाता है। अवतारों में श्रेणी स्थिर करना वकवादियों का काम है भक्त तो अपनी भावना के अनुकूल भगवान् में मग्न होते हैं कुछ उसके लेखा-जोखा में लीन नहीं।

निदान, जब भगवान् के अवतार धारण करने का मुख्य कारण धर्म की संस्थापना है तब भक्तों का भी प्रधान धर्म वही होना चाहिये। यह एक प्रसिद्ध बात है कि हमारी भावना जैसी होती है हमें वैसा ही रूप मिलता है। पुरुष जो काममय या श्रद्धामय कहा गया है उसका तात्पर्य भी यही है। सन्तों तक ने माना है कि राम का भजने वाला राम ही हो जाता है।

राम होने का आशय है राम के अनुसार काम करना। तुलसीदास ने स्पष्ट कहा है कि "सगुणोपासक मुक्ति न लेहीं। ता कहँ राम भक्ति निज देहीं।" राम तो उसी को अपना भक्त बनाते हैं जो मुक्ति नहीं भक्ति चाहता है। लोग संसार से, उसी संसार से जिसकी रक्षा के लिए भगवान् स्वयं अवतार धारण करते हैं, विमुख हो मुक्ति क्यों चाहते हैं? उनको संसार में रहकर मर्यादा का पालन क्यों नहीं रुचता?

हाँ, वास्तव में मुक्ति के उपासकों को लोभ होता है, किसी इष्ट देवता से उनको प्रेम नहीं होता। या तो उसकी सहायता से शाश्वत सुख भोगना चाहते हैं। उनकी लिप्सा इतनी प्रचण्ड होती है कि उनको सामान्य सांसारिक विषय-वासना से सन्तोष नहीं मिलता अतः उनके मानस में नाना प्रकार के उपभोगों की तरल तरंगें उठती रहती हैं जिनकी शान्ति के लिए उनको नाना प्रकार का विरोध करना पड़ता है।

किन्तु राम की उपासना से राम के गुणों का प्रसार होता है। राम के गुणों के प्रसार का अर्थ है मर्यादा का पालन। मर्यादा के पालन का जो परिणाम होता है उसमें वह आनन्द मिलता है जिसका विधान

स्वर्ग में भी नहीं है। रामराज्य की प्रतिष्ठा के लिए परम आवश्यक है कि 'धनुष बान' हाथ में हो। धनुषबान का तात्पर्य है धर्म की स्थापना, साधु की रक्षा, दुष्टों का दलन।

तुलसीदास ने कृष्ण भगवान् से धनुष-बाण धारण करने के लिये क्यों कहा? इसीलिए ताकि उस समय "गोंड़ गँवार नृपाल महि, यवन महा महिपाल। साम न दाम न भेद कलि, केवल दंड कराल" का ही आतंक चारों ओर छा गया था? कहीं किसी में धर्म और मर्यादा की प्रतिष्ठा नहीं रह गई थी? सभी अपने-अपने रंग में मस्त थे और माधुर्य भाव के 'सम' प्रेम के प्रचार में 'महाविष' का व्यापार कर रहे थे? समाज से छोटे-बड़े का भेद ही मिट गया था? सभी 'पुष्टि' से ही तुष्टि चाहते थे? हाँ तो कृष्ण भगवान् ने भक्तों की मर्यादा का सदैव ध्यान रखा था। अपनी प्रतिज्ञा भूल भीष्म पर चक्र उठा दौड़ रहे थे; फिर भला तुलसीदास की सहज प्रार्थना पर क्यों नहीं ध्यान देते। कहा जाता है कि भगवान् कृष्ण ने तुरन्त मुरली को अलग रख, हाथ में धनुष-बाण धारण कर लिया और प्रत्यक्ष दिखा दिया कि भक्त भगवान् को कितना प्यारा है, जो हो, आज भी उस माधव-मूर्ति के हाथ में धनुष-बाण बना है जो उक्त घटना को पुष्ट करने के हेतु बना है।

बस, ऊपर जो कुछ कहा गया है उसका तात्पर्य है कि वास्तव में वही राम का सचा भक्त है जो सर्वथा मर्यादा के पालन में मग्न रहता और धर्म तथा सज्जनों की रक्षा के लिए अस्त्र-शस्त्र धारण करता है। राम या कृष्ण की सच्ची भक्ति लोक की मङ्गल कामना है, मन की मौज कदापि नहीं। कारण, इसीलिए तो भगवान् अवतार लेते हैं; और भक्तों के लिए विश्व में एक मर्यादा स्थिर कर जाते हैं जिसके पालन से लोक और परलोक दोनों ही सुधर जाते हैं और लोक में सर्वत्र मङ्गल का विधान हो जाता है? अन्यों को तो नहीं कहते पर तुलसी की स्पष्ट घोषणा है—

—:o:—

१४—सतपंच चौपाई मनोहर

श्री रामचरितमानस में गोस्वामी तुलसीदासजी ने जो सहज हुलास में 'सतपंच चौपाई' का उल्लेख कर दिया तो वह पंडितों के लिए पिनाक हो गया। यहाँ तक कि तुलसी के परम प्रशंसित खोजी डाक्टर श्री माता प्रसाद गुप्त जी ने भी इसके सम्बन्ध में लिख दिया।

'सतपंच' के सम्बन्ध में साधारणतः निम्नाङ्कित धारणाएँ हैं—(१) इसका अर्थ है '७ या ५', (२) इसका अर्थ है '५००१' जो इस विषय की कवि प्रथा के अनुसार १०० तथा ५ की संख्याओं को उलटा पढ़ कर के निर्धारित किया जाता है, और (३) इसका अर्थ है, 'अच्छे पंच।' प्रथम के विषय में यह कहा जा सकता है कि ७ या ५, ६ हजार पंक्तियों के काव्य का बहुत छोटा अंश मालूम होता है। इसके अतिरिक्त 'सत' का अर्थ ७ कभी नहीं होता। दूसरे के विषय में इतना ही कहना यथेष्ट होगा कि किसी गणना विधि से योग ५००१ नहीं आता। और तृतीय अर्थात् 'अच्छे पंच' का अर्थ प्रसङ्ग से नहीं सिद्ध होता, एक चौथा अर्थ भी सम्भव है 'सतपंच' अथवा 'पंचसत' का साधारण अर्थ ५०० होता है; क्या यह सम्भव नहीं कि प्रस्तुत छन्द काव्य की प्रथम पाण्डुलिपि के आकार को सूचित करने के लिए लिखा गया रहा हो और उसका अन्तिम छन्द रहा हो ? कम-से-कम जिस आकार पर हम लोग पहुँचे हैं वह इससे ६ ही संख्या आगे है। (तुलसीदास, हिन्दी परिषद् प्रयाग विश्व विद्यालय, १९४२ ई० पृ०—२६५-६)

श्री माताप्रसाद गुप्त का मत उनकी उक्त पोथी में है। शेष मतों की मीमांसा—'मानस-पीयूष' में पायी जाती है। काशी के प्रसिद्ध रामायणी श्री विजयानन्द त्रिपाठी का मत कुछ और ही है। 'सतपंच चौपाई' पर उनकी टीका भी हो चुकी है और गीता प्रेस, गोरखपुर से प्रकाशित भी हो चुकी है। जिज्ञासुजनों को उसका अध्ययन करना चाहिये। यहाँ हम किसी के मति-विलास में न पड़कर कहना केवल इतना ही चाहते हैं कि हमारी समझ में इसका सरल, सुबोध और परम्परा प्राप्त अर्थ है 'सात-पाँच' ही। 'सात-पाँच' का प्रयोग रूढ़ है, इससे इसका अर्थ अलग-अलग नहीं किया जा सकता। बचपन में स्वयं इस जन ने न जाने कितने अवसरों पर इस नीति का अनुसरण किया और साथियों के साथ न जाने कितने गदहों को खदेड़ कर घर के सामने अथवा अड़ोस-पड़ोस से दूर किया। गदहे को सयाने लोग छूते नहीं और गदहे कहने मात्र से मानते नहीं। धोबी लोग भी उन्हें बाँधकर रखते नहीं; निदान सीमा के अतिक्रमण पर बालकों की टोली निकलती और इस मन्त्र से काम लेती है—

सात पाँच लड़िका एक सन्तोष। गदहा मरले तनिकौ न दोष।

अर्थ चाहे जो होता हो पर इसका अर्थ कभी 'सात या पाँच' किंवा 'सात और पाँच' नहीं समझा जाता। इसका अर्थ सात से पाँच तक

ही लिया जाता हो ऐसा भी नहीं है। बस इसका अर्थ है सात-पाँच। कोरी संख्या नहीं संख्यान।

'सात-पाँच' का यह प्रयोग रोम-रोम में रमा था पर गदहे का प्रसंग होने तथा बचपन का कौतुक करने के कारण यह पंडितों के काम का न था। निदान चुप रहा, पर रहता तो कब तक चुप रहता। जो बात है वह लेख में कब तक नहीं उतरती? देखा तो उधर से कोई मर्मी आनन्द-घन भी बोल उठा—

ऐसे जिन-चरने चित ल्याऊँ रे मना,
ऐसे अरिहंत के गुन गाऊँ रे मना।
उदर भरन के कारण रे, गौआँ बन में जाय।
चार-चरे, चिहुँ दिसि फिरे, वाँकी सुरति बछरुआ मांहे रे॥
सात पाँच साहेलियाँ रे, हिल मिल पाणी जाय।
ताली दिये खड़-खड़ हसे रे, वाँकी सुरति गगरुआ मांहे रे॥
नचुआ नाचे चोक में रे, लोक करे लख सोर।
बाँस गही बरतें चढ़े, वाको चित न चले कहू ठोर रे॥
जुआरी मन में जूआ रे, कामी के मन काम।
आनन्दघन प्रभु यूँ कहे, तुमे ल्यो भगवंत को नाम रे॥
—६४॥ पृ० ४०२

(घनआनन्द और आनन्दघन, प्रसाद परिषद्, काशी, सं० २००२)

हिंसा के 'सात पाँच' का जब अहिंसा के 'सात-पाँच' में दर्शन हुआ और 'पूरब' से राजस्थान तक उसका प्रसार दिखाई दिया तब जी में आया कि इसी को तुलसी के 'मानस' में भी देख लो। बढ़ा तो विद्वानों की शोध भड़क उठी। किसी ने कहा, 'सात-पाँच' तक तो कोई बात नहीं, पर 'सतपंच का यह अर्थ कैसा? कहीं सात का 'सत' होता भी है? बात डटकर कही गई थी, अतः ठिठक गया और सोचा—क्या इन खोजियों को 'सतसई' का भी पता नहीं। माना कि किसी पंडित ने किसी 'शतक' की भूमिका में उसका अर्थ भी 'शत' ही लिया पर हिन्दी साहित्य का कौन अभागा जीव है, जो बिहारी के 'सतसैया के दोहा' को नहीं जानता। हिंदी में कितनी सतसैयायें हैं इसे कोई मिश्रबन्धुओं से पूछ देखे और यह भी जान ले कि अभी जो वीर 'सतसई' और 'करुण सतसई' प्रचार में आई हैं, वे भी 'सात' को लेकर कुछ 'शत' को लेकर नहीं। और यदि इतने से ही सन्तोष न हो तो आचार्य कवि केशवदास से भी पूछ देखिये, कहते हैं—

सोरह सै बीते बरस, विमल सतसठा पाइ ।
भई ज्ञान गीता प्रगट, सबही को सुखदाइ ॥

—१३ पृ० ५

(विज्ञान गीता, श्री वेंकटेश्वर प्रेस, मुम्बई, सं० १९५१ वि० प्र० प्रभाव)

आचार्य केशवदास ने भी 'सतसठा' में 'सत' को 'सात' ही के अर्थ में लिया है, कुछ 'शत' के अर्थ में नहीं। निदान मानना पड़ता है कि हिन्दी में 'सत' का व्यवहार 'सात' के लिए भी प्रचलित है और इसी कारण तुलसी के 'सत-पंच' का अर्थ भी 'सात-पाँच' ग्रहण किया गया है, जिसका रूढ़ अर्थ है 'सात-पाँच' ही, कुछ सात या पाँच नहीं।

'सतपंच चौपाई' में संख्या नहीं व्यंजना है, यही हमारा प्रतिपाद्य विषय है। ध्यान देने की बात है कि गोस्वामीजी 'मानस' में अधिकार भेद मानते और उस पर विशेष अनुराग भी दिखाते हैं। साथ ही यह भी स्पष्ट कर देते हैं कि कीर्ति और कविता वही अच्छी है जिससे सब का लाभ हो—

कीरति भणित भूति भलि सोई।
सुरसरि सम सब कहँ हित होई॥

अस्तु, कहना पड़ता है कि यहाँ भी तुलसी का यही पक्ष होगा; अन्यथा उनके 'मानस' में आ नहीं सकता। ध्यान से सुनें, किस अवसर पर, किस ढब से, किससे क्या कहते हैं। मानस का उपसंहार है। फल-श्रुति में कहा गया है—

रघुवंस भूषन चरित यह नर कहहिं सुनहिं जे गावहीं।
कलिमल मनोमल धोइ बिनु श्रम रामधाम सिधावहीं॥

परन्तु जो इतना न कर सके और कहने सुनने गाने में ही अपने को न खपा सके, उसके लिए भी तो कुछ होना चाहिये ? तुलसीदास कहते हैं—हाँ, अवश्य। देखिये न—

सतपंच चौपाई मनोहर जानि जो नर उर धरहिं।
दारुन अविद्या पंच जनित विकार श्रीरघुवर हरहिं॥

तो क्या यह आवश्यक है कि इस 'सतपंच चौपाई' का लेखा दिया जाय ? नहीं। ऐसा सोचना ठीक नहीं। कारण कि 'जानि' भी इसके लिए आवश्यक है और सो भी 'मनोहर जानि।' छन्द की यह मनोहरता ही बताती है कि इसमें ग्राहक स्वतन्त्र है। वह चाहे जिन सात-पाँच चौपाइयों को मनोहर जानकर चुन ले और उन्हें अपने हृदय में स्थान

दे । फिर तो श्रीरघुवर की कृपा से सारा प्रपंच दूर हो जायेगा और उसका हृदय स्वच्छ होकर सहज रूप के धारण में समर्थ होगा । 'उर धरहिं' में आचरण पर बल दिया गया है और यह बताया गया है कि उन्हीं 'सतपंच चौपाई मनोहर' के साँचे में अपना शील निकालना चाहिये । अर्थात् 'कहनी' से नहीं 'गहनी' से यह काम सधेगा । रही भक्तों की बात । सो उनकी क्या कथा ? तुलसी कहते हैं—

पाई न केहि गति पतितपावन राम भजि सुनु सठ मना ।
गनिका अजामिल व्याध गीध गजादि खल तारे घना ॥
आभीर जवन किरात खस स्वपचादि अति अघरूप जे ।
कहि नाम बारक तेऽपि पावन होहिं राम नमामि ते ॥

और यदि इतनी दूर का विश्वास न हो तो सामने ही क्यों नहीं देखते ? क्या यह सब नहीं कि—

जाकी कृपा-लव-लेस से मतिमंद तुलसीदास हूँ ।
पायेउ परम विश्राम राम समान प्रभु नाहीं कहूँ ॥

सारांश यह कि गोस्वामी तुलसीदास ने 'सतपंच चौपाई' में कोई गूढ़ और गणित की बात नहीं कही है कि उसको खोलने में मूँड़ मारा जाय । नहीं, उन्होंने तो भक्ति को कूट से सदा दूर ही रक्खा है और 'सूधो मन, सूधो वचन, सूधो सब करतूति' को ही सदा सराहा है, फिर कूट की सारी समझ को यहीं क्यों लुटा दिया जाय ? नहीं, 'सतपंच' का अर्थ है सीधा 'सात-पाँच' ही, वही 'सात-पाँच' जिसका परिचय यहाँ दिया गया है और जो 'बोल' से 'काव्य' तक फैला हुआ है । स्मरण रहे, 'मनोहर' की कसौटी आपके 'मानस' में हैं । तुलसी के 'मानस' में तो उसकी 'मनोहरता' भर है । फिर वह किसी चौपदी के लिए आप से आग्रह क्यों करे ?

हाँ, 'सात-पाँच' की संख्या उसी को कम दिखाई देगी जो वस्तुतः मात्रा का भक्त है । भाव का भूखा तो इसी में सब कुछ पा लेता है । 'सात-पाँच' का प्रवाह है ही ऐसा । तुलसी का इसमें अपराध नहीं, यह भावना का प्रसाद है ।

—:०:०—

१५—स्याम सगाई

स्याम सगाई नन्ददास की अनूठी रचना है । इस रचना की सरलता और सरसता को लेकर काव्य-समीक्षा करने का यह अवसर नहीं ।

सहृदय रसिक तो इसे आप ही चखते चलते हैं। सच तो यह है कि अष्टछापी कवियों में नन्ददास की स्थिति बहुत कुछ विचित्र है। वार्ताकार ने न जाने क्या समझ कर उनको 'मर्यादा' का विरोधी दिखला दिया है। स्मरण रहे, नन्ददास में यदि मर्यादा नहीं तो और कुछ भी नहीं। कहते हैं सूर 'पुष्टि' को लेकर चले हैं और तुलसी 'मर्यादा' को लेकर। सच है। पर नन्ददास क्या लेकर उठे हैं कुछ इसका भी तो विचार होना चाहिये। सो इसके हेतु इसी 'स्याम सगाई' को ले लीजिये। वास्तव में इस रचना का उद्देश्य क्या था इसका ठीक-ठीक विचार हो गया होता तो हिन्दी के अनेक आन्दोलन आप ही कर गये होते। परन्तु खेद है कि ऐसा आज तक न हो सका। नन्ददास कहते हैं—

"इक दिन राधे कुँवरि नन्द घर खेलन आई।
चंचल और विचित्र देखि जसुमति मन भाई॥
नन्द-महरि मन मैं कह्यौ, देखि रूप की रास।
यह कन्या मो स्याम कौं, गोविन्द पुजवैं आस॥
कि जोरी सोहनी।"

सचमुच 'गोविन्द' की कृपा से 'जसुमति' की 'आस' पूरी हो गई पर यशोदा की यह आशा नन्ददास की सूझ नहीं, नहीं, सूरदास ने भी यशोदा के हृदय में यही भाव दिखाया था और बताया भी था इसी रूप में राधा का 'कारो' से डँसा जाना, और फिर सखियों के उद्योग से कृष्ण गाडुरी के द्वारा उनका अच्छा किया जाना। कहा जा सकता है कि नन्ददास ने स्याम सगाई का भी यही विषय बनाया तो उसमें विलक्षणता क्या आ गई। कहा जा सकता है कि नन्ददास ने इसके आगे जो तुलसी की भांति बरसाने की वाटिका में राधा-कृष्ण का मिलन करा दिया है वही नन्ददास का अनूठापन है। कहते हैं—

"मोरचन्द्रिका धारि सु नटवर भेष बनाई।
बरसाने के बागहि मोहन बैठे जाई॥
सब सखियन के झुण्ड में देखन चली गोपाल।
अरस-परस दोऊ भये कुँवरि किसोरी लाल॥
मनहि फूले फिरैं।"

ठीक है। पर इतने से ही 'जड़िया' नन्ददास का माहात्म्य नहीं खुलता। नन्ददास के श्याम माता से फटकार पाने पर सहर्ष कहते हैं कि चिन्ता मत करो। राधा को तो उन्हें दौड़ कर देना पड़ेगा। सुनिये—

"मैया तैं मुसकाइ कहत यौं नन्द-दुलारौ।
नाहिंन करिहौं ब्याह, करौ जिनि लाड़ हमारौ॥
जौ तुमरे इच्छा यही, उनहीं की हम लैहिं।
तौ मैं ढोटा नन्द कौ, पाइन परि परि दैहिं॥
सोच नहिं कीजियै।"

फलतः हुआ भी वही जो कृष्ण ने सोच लिया था। कृष्ण के 'अरस-परस' से राधे को मूर्छा आ गई और किसी प्रकार कुछ सुधि भी आई तो 'स्याम' की रट लगी। अन्त में सखियों ने कृष्ण-मिलन की युक्ति निकाल कर यह पाठ पढ़ाया—

"सखी कहैं सुनि कुँवरि! तोहिं इक जतन बतावैं।
चुप रहि कै सुनि लेहु, उठौ अब घर लै जावैं॥
कहियौ काटी नाग नैं, जौ पूछै तो माइ।
हम हैं मीत गोपाल को, लैहैं तुरत बुलाइ॥
कहैंगी पीर बहु।"

हुआ भी वही जिसकी सम्भावना थी। गारुड़ी नन्दकुमार का नाम सुनते ही माता बोल पड़ी—

"अरी बीर! चलि जाइ, कहौ यह बिनती मोरी।
जौ जीवैगी कुँवरि, वीर! मैं करिहौं तेरी॥
पाँइ लगौं, बिनती करौं, जग जस मानै तोहिं।
वेगि पटै नन्दलाल कौं, जीव-दान दै मोहिं॥
रावरी सरन हौं।"

जसुमति ने कृष्ण से जाने को कहा तो उनका यह 'अचपल' उत्तर मिला—

"कौंन बाइगी, सुनैं ताहि, किन मोहिं बतायौ।
परपंचिनि तुम ग्वालि, झूठ ही मोहिं बुलायौ॥
को राजा वृषभान हैं? कित बरसानौ गाम?
कौंन तुम्हारी कुँवरि हैं? हौं जानत नहिं नाम॥
कान्ह उत्तर दियौ।"

जैसे-तैसे कृष्ण राधे के पास पहुँचे तो—

"सुनत बचन ततकाल लड़ैती नैंन उघारे।
निरखत ही घनश्याम बदन तैं केस सँवारे॥

सब अपने घर निरखि कै, पुनि निरखी ढिंग माइ।
अचरा डार्यौ बदन पै, मन दीनौ मुसकाइ ॥
सकुच मन मैं बड़ी।"

फिर तो क्या था—

"देखि दोउन कौ प्रेम जु कीरति मन मुसकाई।
जोरी जुग जुग जियौ, विधाता भली बनाई ॥
सखी कहैं जुरि विप्र सों पुहुपन तैं बनमाल।
राधे के कर छ्वाइ कै, गर मेलौ नँदलाल ॥
बात आछी बनी।"

निदान—

"सुनत सगाई स्याम, ग्वाल सब अंगनि फूले।
नाचत-गावत चले, प्रेम-रस मैं अनुकूले ॥
जसुमति रानी घर मज्यौ, मोतिन चौक पुराइ।
बटत बधाई नन्द के, नन्ददास बलि जाइ ॥
कि ज़ोरी सोहनी!"

ध्यान देने की बात है कि जिस 'कि जोरी सोहनी' की भावना से यशोदा के हृदय में 'स्याम सगाई' जगी थी उसी 'कि जोरी सोहनी' से इस 'सगाई' की पूर्ति भी हो गई। परन्तु क्या इतने से ही नन्ददास का इष्ट भी सध गया? निवेदन है—कदापि नहीं। अभी तो राधा-कृष्ण का विधिवत् विवाह हुआ ही नहीं, फिर नन्ददास को सच्चा सन्तोष कैसे हो? हाँ, नन्ददास को भली भांति जानने के लिए आगे के पदों पर विशेष ध्यान दें। कहते हैं—

"सजनी आनन्द उर न समाऊँ।
बरसाने वृषभान लगन लिखी पठई है नंद गाँऊँ।
धौरी धूमरी धेनू विविध रँग शोभित ठाऊँ ठाऊँ ॥
भूषण मणि गण पार नाहिं नैं सो धन देखि लुभाऊँ।
नन्ददास लाल गिरधर की दुलहनि पर बलि जाऊँ ॥३५॥"

(परिशिष्ट पृ० ३७४)

यह तो हुई 'दुलहनि' की बात। अब दूसरी ओर भी झाँकिये। उधर—

"अरी! चल दूलहे देखन जाय।
सुन्दर श्याम माधुरी मूरति अँखियाँ निरख सिराय।
जुरि आईं ब्रजनारि नवेली मोहन दिसि मुसिक्याय ॥

मौर बन्यौ सिर, कानन कुण्डल, मरुवटि मुखहिं सुहाय।
पहेरे जरकसी पट आभूषण, अंग अंग मन अरुझाय।।
तैसी ये बनी बरात छबीली, जगमग रंग चुचाय।
गोप-सभा-सरवर में फूले कमल परम झपटाय।
नन्ददास गोपिन के दृग-अलि लपटन कों अकुलाय।।३६।।"

दुलहिन और दूलह को अलग-अलग तो देख लिया। अब एक साथ ही उनके दर्शन का आनन्द लूटना हो तो कृपया यह पद पढ़ें और नन्ददास के मानस में पैठकर वस्तुतः कुछ उनके जी की भी कहें। लीजिये—

"दूलह गिरिधर लाल छबीलो दुलहिन राधा गोरी जू।
जिन देखत मन में जिय लाजत ऐसी बनी है जोरी जू।।
रत्नजटित को बन्यौ सेहरो उर मोतिन की माला।
देखत बदन श्यामसुन्दर को मोहि रहीं ब्रजबाला।।
मदनमोहन राजत घोरा पर और बराती संगा।
बाजत ढोल दमामा चहुँदिशि ताल, मृदङ्ग, उपंगा।।
जाय जुरे वृषभान की पौरी, उत तें सब मिल आए।
टीको करी, आरती उतारी, मण्डप में पधराए।।
पढ़त वेद चहुँ दिशि विप्र जन, भये सबन मन भाये।
हथलेवा करि हरि राधा सों, मङ्गल-चार पढ़ाये।।
ब्याह भयो मोहन को जबहीं, यशोमति देत बधाई।
चिर जीयो भूतल यह जोरी, नन्ददास बलिजाई।।३७।।"

नन्ददास ने क्या समझ कर सचमुच राधा-कृष्ण का विवाह करा दिया इस पर विचार करना प्रत्येक विचारशील व्यक्ति का पावन कर्तव्य है। राधा-कृष्ण के प्रेम-प्रसङ्ग में टाँकने की बात यही है कि नन्ददास ने बड़ी चातुरी से राधा और कृष्ण का सचमुच विवाह करा दिया है। सचमुच इसलिये कि सूरदास आदि ने कहीं खुल कर राधा-कृष्ण का विवाह नहीं कराया है। हाँ, यह सच है कि सूर की यशोदा भी राधा-कृष्ण का प्रणय देखना चाहती हैं पर सूर को साहस कब है कि राधा-कृष्ण का इस प्रकार का गाजे-बाजे का खुला विवाह करा दें। नहीं सूर तो गान्धर्व विवाह तक ही रह जाते हैं, कुछ नन्द के यहाँ से वृषभान के यहाँ 'बरात' नहीं लिवा जाते और न राधा-कृष्ण के इस दुलहिन-दुलहा रूप का ही कहीं विधान करते हैं। निदान मानना पड़ता है कि वास्तव में यदि किसी ने वस्तुतः राधा को कृष्ण की स्वकीया कर दिखाया

है तो नन्ददास ने ही, इतर सब ने तो उनको किसी-न-किसी रूप में परकीया ही रहने दिया है। हाँ, सूरदास ने इतना अवश्य किया है कि राधा-कृष्ण का मिलन करा तथा राधे को 'कन्या' दिखा उनके परकीयापन को बहुत कुछ दूर कर दिया है, परन्तु फिर भी शास्त्र के विचार से प्रकट रूप में वे परकीया ही हैं—ऊढ़ा न सही कन्या ही सही, हैं तो परकीया ही। अस्तु कहना पड़ता है कि अष्टछापी कवियों में नन्ददास ऐसे कवि हैं जो 'पुष्टि' के साथ ही 'मर्यादा' पर भी ध्यान रखते हैं और कहीं किसी प्रकार का कल्मष नहीं आने देते। स्मरण रहे, उनका इष्ट है—

"भजो श्रीवल्लभ-सुत के चरणं।
नन्द-कुमार-भजन सुखदायक पतितन पावन करणं ॥
दूरि किये कलि-कपट, वेद-विधि-मत-प्रचंड विस्तरणं।
अति प्रताप-महिमा, समाज-यश, शोक-ताप-अघ-हरणं ॥
पुष्टि, मर्यादा, भजन, रस, सेवा निज जन पोषण-भरणं।
नन्ददास प्रभु प्रकट रूप-धर श्री विट्ठलेश गिरिवर धरणं ॥४१॥"

अस्तु, कोई कुछ भी कहता रहे और 'वैष्णवन की वार्ता' कुछ भी बकती रहे पर हम तो यही मानते हैं कि वस्तुतः नन्ददास बड़े ठौर-ठिकाने के कवि हैं और उनके विषय में 'भक्तमाल' में नाभादास ने जो कुछ लिख दिया है वह सर्वथा सत्य है और यदि सर्वथा सत्य न भी हो तो भी उसके सर्वमान्य होने में सन्देह नहीं। साक्षी के लिये अभी यह 'स्याम सगाई' ही पर्याप्त है। है न यही बात ?

—:०:—

१६—ब्राह्मण बांधि बहायो

'श्री व्यास-वाणी' के अवलोकन में लगा तो एक विलक्षण वाणी सामने आ गई। व्यास ने जैसे कहा—

जो हों सत्य सुकुल कौ जायौ।
तौ मेरो मन साँचौ करि हरि,
तुम दारुन दुःख पायौ।
तिनकौ बंस वेगि हरि तोरहु,
गाइ ग्रह जिनि खायौ।
जिन जीवित हौं हत्यो लोभ,
लगि तिहिं बटन कौगरौ कटायौ।

तिहि मेरौ अपमान कियौ,
जिहिं काल हुँकारि बुलायौ।
जिनकौ खोजन रहौ कहीं हहिं,
जिहिं हरि परस छुड़ायौ।
रास विलास जहाँ होते,
तहं मलिया गोरिल गायौ।
गुरुगोविन्दहिं मारि गारि दें,
सौ पापी घर नायौ।
यह बड़ पाप वेगि ही फलिहै,
हथ जुग वृथा गमायौ।
वेगम मँहरी आपुन कों रचि,
भरुवनि भात खवायौ।
तेहि संगति उपजी यह ममता,
ब्राहान बाँधि बहायौ।
जो मैं कह्यौ सोई हरि कीनों,
यह परचौ जग पायौ।
'व्यास' जुबुवें लुनैगो दुख सुख,
यह मन वेद बतायौ॥ १४७॥

श्री व्यास की इस वाणी का मर्म मिला नहीं कि एक दूसरी वाणी भी वज्र की भाँति पड़ी। देखिये न, कैसी विषाद की बात है? कहते हैं—

अब साँचौ ही कलिजुग आयौ।
पूत न कह्यौ पिता कौ मानत,
करत आपनों भायौ।
वेटी वेचत संक न मानत,
दिन-दिन मोल बढ़ायौ।
याही तें बरिषा मन्द होत है,
पुन्य ते पाप सवायौ।
मथुरा खोदति कटत बृन्दावन,
मुनिजन सोच उपायौ।
इतनों दुःख सहिबे के काजै,
काहे को 'व्यास' जिवायौ॥२३३॥

यदि आलमगीर औलिया औरंगजेब का राज्य होता तो कोई चिन्ता की बात न थी। समझ लिया जाता कि यह उसी का अत्याचार है। परन्तु

नहीं, यह तो ठहरी उदार महान अकबर के शासन की बात। फिर इसका समाधान कैसे किया जाय ? 'व्यास' की इस व्यथा का मर्म क्या ? 'काहे को व्यास जिवायौ' का रहस्य क्या है ? क्या कभी व्यास भी काल के गाल में आ गये थे ? सहायता के लिए 'प्राक्कथन की ओर दौड़ा तो दृष्टिपथ में आया कि—

"वृन्दावन में श्री व्यासजी श्री सेवाकुंज के समीप किशोरवन में श्री युगल रूप की आराधना में तत्पर रहते थे। १६२० की बात है। एक दिन आप निभृता शेषकरण रूप से अंतरंग भावना में निमग्न थे। माघ मास की शुक्ला एकादशी थी। उसी समय सहसा श्री किशोरवन में श्री युगलकिशोर जी का प्रादुर्भाव हुआ। श्री व्यासजी युगल दर्शन कर कृतकृत्य हो गये। तब आपने बहुत बड़ा एक मन्दिर निर्माण कर उसमें श्री युगलकिशोरजी को अतिशय समारोह से विराजमान किया। फिर क्या था ? उक्त मन्दिर में प्रतिदिन वैष्णवों का समाज होता। इस प्रकार श्री व्यास जी एक मन एक प्राण होकर श्री जी की सेवा में लीन होगए।"

(पृष्ठ तेईस)

इससे इतना तो प्रकट हो गया कि संवत् १६२० के उपरान्त ही कभी यह घटना घटी होगी। कारण कि स्वयं श्री व्यासजी ने अपनी पहली वाणी में 'मो अनन्य के मन्दिर' का प्रयोग किया है। दूसरी ओर देखते हैं तो एक विशेष घटना इतिहास में भी दिखाई देती है। मुन्तख-बुत्तारीख के लेखक शेखमुल्ला क़ादिर बदायूनी बताते हैं कि जब अकबर बादशाह बाँसवाला से फतहपुर में आ बिराजे तब मथुरा के काजी अब्दुल रहीम ने बादशाह की सेवा में गुजारिश की कि एक ब्राह्मण ने मसजिद की सामग्री से मन्दिर बनवा लिया है। उसको जब टोका गया तब उसने रसूल तथा इसलाम को गाली दी। बादशाह ने जाँच के लिए बीरबल तथा अब्दुल फजल को भेजा। अब्दुल फजल ने आकर साखी भर दी। दंड के विषय में मतभेद खड़ा हो गया। हरम की देवियाँ वध के प्रतिकूल थीं। बादशाह मौन था। शेख को कोई ठीक उतर नहीं देता था। आप जानें, बस यही कह कर रह जाता था। शेख घटनास्थल पर पहुँचे और कत्ल की आज्ञा दे दी। प्राणदंड हो गया तो विवाद बढ़ा।

(तृ० भाग, पृष्ठ ८१–१)

शेख मुल्ला कादिर ने सदरुस्सुदूर शेख अब्दुन्नबी के परिचय में

जिस घटना का उल्लेख किया है वह आप के सामने है। श्री मखनलाल रायचौधरी अपनी पुस्तक 'दीने इलाही' में इसे सन् १५-७७-७८ ई० की बताते हैं। पृष्ठ ८५-६ पर उन्होंने इसका जो उल्लेख किया है उसमें कुछ भ्रम हो गया है। भूलना न होगा कि मुल्ला बदायूनी ने साखी भरने में केवल 'फजल' का नाम दिया है, बीरबल का नहीं, यद्यपि गये थे वे भी साथ ही। बात क्या थी, किस ढंग की थी, इसका कुछ आभास तो मिल गया, पर इस बात का पता नहीं चला कि मसजिद के मसाले से बने हुये उस मन्दिर की गति क्या हुई। ब्राह्मण देवता को प्राणदंड मिला। इस पर इतना कोलाहल क्यों हुआ। अकबर को इस घटना ने इतना प्रभावित क्यों किया ? कुछ कारण विशेष तो होगा ही।

कहा गया है कि श्री व्यासजी ने अपना मन्दिर संवत् १६२० के पश्चात् ही कभी बनवाया। बताया गया है कि उक्त ब्राह्मण-बध कभी सन् १५७७-८ अर्थात् संवत् १६३४-५ वि० में हुआ। इस प्रकार समय अधिक तो हो जाता है पर प्रतिकूल नहीं पड़ता। 'वाणी' पर विचार करते समय यह भी ध्यान में रखना होगा कि उसमें मन्दिर के प्रसंग में जो कुछ कहा गया है उसमें गणेश की स्थापना का भी उल्लेख है। अतः उसका इसलाम से सीधा सम्बन्ध नहीं है। हाँ,

गुरुगोविन्दहिं मारि गारि दै,
सो पापी घर नायौ।
यह बड़ पाप वेगि ही फलि है,
हथ जुग वृथा गमायौ।

'का हथजुग वृथा गमायौ, का संकेत अवश्य 'शासन' की ओर है। और—

बेगम महेरी आपुन कों रचि,
भरुवनि भात खवायौ।
तेहि संगति उपजी यह ममता,
ब्राह्मन बाँधि बहायौ।

में तो प्रत्यक्ष ही ब्राह्मण के विनाश का उल्लेख है। 'ब्राह्मन' बाँधि बधायौ का 'ब्राह्मन बाँधि बहायौ' तो कहीं नहीं कर दिया गया है ? कबीर बाँधकर बहाए जो गये थे। जो हो, इस 'ब्राह्मण बाँधि बहायो' में कुछ न कुछ इतिहास अवश्य है। व्यासजी ने एक और भी सूत्र दिया है। कहते हैं—

मथुरा खोदति कटत वृन्दावन,
मुनिजन सोच उपायौ।
इतनों दुःख सहिवे के काजैं,
काहे कों 'व्यास' जिवायौ।

स्मरण रहे, यह जीते जी नरक की स्थिति यों ही नहीं हो सकती। इसमें कुछ न कुछ शासक का हाथ अवश्य है। व्यास ने कृपा कर इतना और भी बता दिया है।

जैसी रीति सेख सोफिन की,
ऐसी रीति चलावत ॥ ८३ ॥

जिससे प्रकट होता है कि उस समय शेख-सूफियों का प्रभाव पूरा काम कर रहा था। अकबर ने किस प्रकार शेखों के प्रकोप से अपने आपको बचा लिया इसे इतिहास में देखिये और फिर कहिये कि व्यास-वाणी में जिन अत्याचारों का उल्लेख हुआ है उनका मूल क्या है। सदरुस्सुदूर अब्दुलनबी ने इसलाम के जिस रूप की रक्षा के हेतु, उदार अकबर से एक उद्दंड ब्राह्मण की हत्या का शासन माँगा था वह उसे अन्त समय तक न मिला। अन्य मुल्लाओं ने भी उसका पूरा साथ न दिया। हरम ने उसका विरोध किया। उसका साहस तो देखिये। उसने उस ब्राह्मण को प्राणदंड दे ही दिया। उसकी गति क्या हुई और उसके मन्दिर पर क्या बीती इसका पता नहीं, किन्तु व्यासवाणी के आधार पर सरलता से कहा जा सकता है कि कभी ऐसा समय, व्यास के जीवन में ही आ गया था कि उनके मन्दिर में गणेश की स्थापना हो गई और 'रास-विलास' का स्थान 'मलिया गोरिल' को मिल गया। किसी के दोनों हाथ काट लिए गये और किसी को प्राणदंड मिला। किसी ने मथुरा खोदना आरम्भ किया तो किसी ने वृन्दावन को काटना, क्या कोई इतिहास-प्रेमी बता सकता है कि यह सब कब और क्यों हुआ। ? अकबर के उदार शासन में इसकी संभावना तो न थी। पर उस समय के शेख ने कारण विशेष-वश किया यही, उसे फल मिला, किंतु, बाद में तो क्या 'जो मैं कह्यौ सोई हरि कीनों' में कुछ इसका भी संकेत है ?

—:०:—

१७—फजल के बध में शरीफ का हाथ

अल्लामा अबुलफजल के बध के विषय में विद्वानों में कोई मत भेद नहीं दिखाई देता और सभी जहाँगीर के कथन और असदबेग के विवरण

को एक मात्र प्रभाव मानकर चल रहे हैं। परिणाम यह हो रहा है कि सभी एक मत हो गए हैं और इस क्षेत्र में शोध की चिन्ता से मुक्त हैं। परन्तु विचार की दृष्टि से देखा जाय तो पता चले कि इतिहास विदों का यह आलस्य ठीक नहीं। सच है कि जहाँगीर ने अपनी 'तूजुक' में अपने आप ही लिख दिया कि किस प्रकार उसकी प्रेरणा से उक्त अल्लामा का वध हुआ और यह भी ठीक है कि असदबेगने भली भाँति दिखा दिया कि किस प्रकार अपनी शेखी के कारण उक्त शेख, लुटेरे वीरसिंह के पंजे में आ गए और अपनी ऐंठ के कारण असहाय मारे गए। बस विद्वानों का काम इतने से ही निकल गया पर किसी ने यह न सोचा कि इस लुटेरे वीरसिंह से शाहजादा सलीम की भेंट कब हुई कि उनमें इतनी गहरी छनी और ऐसी भेद भरी बात किसी के द्वारा कहला भर दी गई। यह सारी घटना किस क्रम से घटी इसका थोड़ा पता इस जन के 'अबुलफजल का वध' (ना० प्र० पत्रिका, सं० २००३ वि०) शीर्षक लेख से चल सकता है । इसलिए यहाँ उस पर कुछ विचार न होगा । पाठक इतना तो जानते ही होंगे कि जब सलीम इलाहाबाद में बस कर मन-मानी कर रहा था और अपनी बादशाहत का डौल डालना चाहता था तब बादशाह अकबर ने आगरे से एक व्यक्ति को उसको समझाने के लिए भेजा जो उसका जन्म साथी था और जिसने फिर कभी अकबर के सामने होने का साहस नहीं किया। इलाहाबाद में जाकर उसने क्या किया, इसका पता इतिहास नहीं देता_ वह तो बस इतना ही कहता है कि शाह सलीम ने उसे बिहार का सूबेदार बनाया और उसका पूरा अधिकार उसी को सौंप दिया। पर सलीम ने ऐसा क्यों किया, इसे कोई नहीं बताता । स्वयं जहाँगीर भी अपनी 'तूजुक' में यही लिखता है कि गद्दी पर बैठने के १५वें दिन वह शरण में आया और झट उसे ५,००० सवार मनसब 'अमीरुलउमरा' का पद मिला। वह जहाँगीर का प्रधान मंत्री हो गया। इतना ही नहीं, बादशाह स्वयं कहता है कि वह और कुछ भी देना चाहता था पर शरीफ खाँ सन्तोष कर गया और विनय के साथ कहा—हुजूर काम देखकर।

देखा आपने ? अकबर के इस दूत का जहाँगीर पर कैसा रंग छाया है। बादशाह जहाँगीर उसको क्या नहीं मानता ? वह स्वयं लिखता है कि उसके आने से मैं बड़ा प्रसन्न हुआ । मेरा उससे इतना गहरा लगाव है कि मैं उसे भाई, पुत्र, मित्र और साथी समझता हूँ। निश्चय ही जहाँगीर ने इतने ही में बहुत कुछ कह दिया है। उसे इस

शरीफ़ खाँ का पूरा भरोसा था और इसकी कुशलता और कार्य-क्षमता पर वह मुग्ध था सब कुछ सही, पर इसका रहस्य क्या है ? क्यों जहाँगीर शरीफ़ खाँ का ऐसा भक्त हो गया है ? कारण अबुलफ़जल के बध के अतिरिक्त और क्या हो सकता है ? ध्यान से सुनें।

प्रतीत होता है कि जब अकबर की ओर से शरीफ़खाँ इलाहाबाद में जहाँगीर के पास पहुँचा तब वह अकबर को भूल गया और जहाँगीर को राज्य का सारा भेद देने लगा। होते-होते हुआ यह कि जब वीरसिंह प्रयाग में शाह सलीम से मिलने गया तब उसने 'शाह' से उसका सामना कराया और अपनी चातुरी से उसे मोह लिया। आप इसे कल्पना की बात न समझें। शरीफ़ खाँ का यह जीवन देखना चाहते हों तो कृपा कर केशवदास के 'वीरसिंह देव चरित' का अध्ययन करें पुस्तक हिंदी कविता में अवश्य है पर है इस क्षेत्र में बड़े काम की। आपके डाक्टर वेनीप्रसाद ने १ उसकी उपेक्षा की तो इससे हुआ क्या ? सच पूछिए तो उनको इसका पता ही कितना था। उनकी 'भाषा' की जानकारी तो इतनी ही है कि उनकी दृष्टि में तो जहाँगीर के शासन में तुलसीदास ने रामायण की रचना की जो करोड़ों व्यक्तियों की दृष्टि में एक साथ ही होमर भी है बाईबिल भी, शेक्सपियर भी है मिलटन भी (पृ० ४४८)। कहिए अब कौन कह सकता है कि उन्हें 'संवत् सोरहसौ इकतीसा' का पता नहीं जो रामायण की रचना जहाँगीर के काल में बता रहे हैं।

अच्छा छोड़िए इन इतिहास—लेखकों को और लीजिये हाथ में कवि केशवदास के उक्त ग्रंथ 'वीरसिंह देव चरित' को।

उसमें स्पष्ट लिखा है—

सुख पायौ बैठे हते एक समय सुलतान।
खाँसरीफ़ तिन बोलि लिय विरसिंघ देवसुजान।
विरसिंघ देव सुजान मान दै बात कही तब।
या प्रयाग मैं कुंवर सौह करिए मोसौं अब।
तोसौं करौं विचार करहि अपने मन भायैं।
अनत न कबहूँ जाउ रहहु मो संग सुख पायैं॥ (५. ५१)

शरीफ़ खाँ ने प्रयाग की संधि वा शपथ में जो योग दिया प्रत्यक्ष है। जहाँगीर ने 'तूज़ुक' में कुछ गोलमाल कर दिया तो इससे क्या हुआ, हमारा वीरसिंह चरित तो हमारे सामने है ? वह तिथि नहीं देता पर बात तो सारी बताता है ? हाँ तो इसी शपथ के उपरांत जहाँगीर ने अपने

जी की बात कही और उसका परिणाम हुआ अल्लामा अबुलफजल का निधन।

अबुलफजल के अन्त का अकबर पर जो प्रभाव पड़ा उसे इतिहास खूब जानता है। पर वह यह नहीं जानता कि कभी रामदास के द्वारा सलीम से कुछ ऐसा भी कहलाया गया था—

पठयौ तहँ कछवाहौ राम, साहि सलैम जहाँ बलधाम।
करि तसलीम समय जब लह्यौ, बचन निवारि राम सब कह्यो।
दुहुँ दीन प्रभु साहि जलाल, तुम ऊपर अति भए कृपाल।
तुम सुख सकल साहिबी करौ, सत्रुन के सिर पर पग धरौ।
वीरसिंह बासु की गनेहु, जौ तुम सुख शरीफ खाँ देहु।
हय गय माल मुलुक पर जाउ, इनपर कीजै प्रगट प्रभाउ। (७. १४)

इसका उत्तर जो कुछ शाह सलीम की ओर से मिला वह भावभरा औरं कुछ कड़ा था। अतएव रामदास ने कहा कि अच्छा बासुकी और शरीफ खाँ को रहने दें केवल वीरसिंह को दे दें—

रामदास तब ऐसो कह्यौ अब सरीफ खाँ बासुकि रह्यौ।
अपने मन मैं सुख कीजई, राजा वीरसिंह दीजई। (७. १८)

शाह सलीम ने इसका जो उत्तर दिया वह उसकी दृढ़ता और मित्र-भावका परिचायक है—

मेरौ वीरसिंह जौ होय, तौ मैं बाँधि देहु पति खोय।
मन क्रम बचन चित्त यह लेखि, मो कहँ वीरसिंह कहँ देखि।
दैन कहत जगती को राज, ता कहँ तूं चाहत है आज।
वाकै साथ बिपति बरु बरौं, वा बिन राज कहा लै करौं।
तूं मेरौ सुदई सुखकारि, और होय तो डारौं मारि॥ ७. २१)

रामदासने वीरसिंह के साथ जिन दो व्यक्तियों का नाम लिया है उनमें से एक तो शरीफ खाँ है और दूसरा बासुकी जिसे इतिहास बासू किंवा राजा बासू के नाम से जानता है और जिसे 'तूजुक' में जहाँगीर ने आप ही अपना भक्त फलतः कृपापात्र बता दिया है और समय समयपर उसका मनसब बढ़ाया है। तात्पर्य यह कि दरबारी कवि केशव 'भाषा' में जो कुछ कह रहा है ध्यान से सुनें और कहें उसकी कविता से कहाँ इतिहास का दम घुटता है जो लोग फूटी आँख से भी नहीं देखते।

हाँ, तो शाह सलीम फिर प्रयाग में आ रहे पर 'बेगमखाँ' की मृत्यु और अबकर का सन्देश पाते ही कुछ विचलित से हो गए। दो एक दिन के बाद बाहर निकले तो—

मुजरा कियौ बसीठनि आनि, पूँछी बात तिन्हैं जिय जानि।
अकबर सोहि गरीब निवाज, इन्द्रजीत को दीनौ राज।
कहे बसीठनि सब व्यवहार, जैसे कछू भये दरबार। (७-५३)

'दरबार की बात हो गई तो सलीम के सामने भी कुछ प्रश्न उठे। 'बेगम' का शोक उसके हृदय में छा गया और वह राजधानी में जाने के लिए प्रस्तुत हो गया। इसपर राजा बासु की और 'केशवराइ' ने जो कुछ कहा उसके कहने की आवश्यकता नहीं। हाँ, इतना बता भर देना है कि यह भी वही केशवदास मारु-है जिसे जहाँगीर ने तूजुक में सबसे बड़ा भक्त बताया है और १५०० का मनसब दिया है। सारांश यह कि यहाँ भी केशव इतिहास के प्रतिकूल नहीं। और विशेष बात तो यह है कि—

करि तसलीम सुमिरि नरहरी, बीरसिंह तब बिनती करी।
जैजत हैं बेगम के हेत, आलम प्रभु के नगर निकेत।
जिहि सुख होय साहिके गात, सोई कीजै तजि सब बात।
मोहि साहि कौं सौंपौ जाइ, जातैं कुल को कलह नसाइ।
हौं हजरत सिर सदकै भयौ, एक गुलाम भयौ नहिं भयौ। (७-६१)

वीरसिंह का यह कहना था कि शरीफखाँ भी भभक उठे और बोले—ऐसा हो नहीं सकता।

खाँ सरीफ बोले रिस भरे, वीरसिंह तुम राजा करे।
सुतौ साहि जब देत न बनै, राजा दीनै पातक घनै।
तातैं मोहि मया करि देहु, बढ़ै साहि सो दिन दिन नेहु। (७-६१)

सलीम ने जो कुछ कहा उसे न कहना ही ठीक है। पर हुआ यह-

साहि सलैम साहि पै गए, साहि बहुत तिनकौं दुख दयौ।
दूरि सरीफ खान भगि गयौ, सबै मुलुक अति उचितौ भयौ।
वीरसिंह देउ भैया संग्राम, देख्यौ आनि ओंड़छौ ग्राम।

बस, यहाँ पर इतना और जान लें कि केशव ने शरीफखाँ को 'वीरसिंह तनकौ तनत्रान' कहा है और अबुलफजल के बध में उन्हें घटक समझा है। यदि शरीफखाँ न होता तो सलीम और वीरका ऐसा संघ जुटता इसमें संदेह है। कोई कुछ कहे पर हमारा तो दृढ़ अभिमान है कि हिन्दी भाषा की उपेक्षा से हिन्द फूल नहीं सकता। वैसे नया हिंद' जो करे, पर पुराने हिंद को समझने के लिए उसे हिन्दी काव्यका अध्ययन करना ही होगा।

—डाक्टर साहब कहते हैं-दिग्रेट हिन्दी पोयट केशवदासेजज़ी 'वीरसिंहदेव चरित' इज औफलिंटिल वैल्यू फ्राम दि प्वाइएटऔफव्यू औफ पोलिटिकल हिस्ट्री-हिस्ट्री औफ जहाँगीर पृ० ५१

—:०:—

१८—बिहारी का प्रतिबिम्बवाद

अध्यात्म के क्षेत्र में बिहारी प्रतिबिम्ब वादी हैं तो भक्ति के क्षेत्र में द्युतिवादी। 'द्युति' और 'प्रतिबिम्ब' के सहारे बिहारी ने काव्य का जो भव्य-भवन खड़ा किया है उसमें कला का साम्राज्य और विलास का बोलबाला भले ही हो पर उसमें नीति का अभाव और मर्यादा का उल्लंघन कहीं नहीं है। बिहारी के कौशल पर विचार करने का यह अवसर नहीं। यहाँ तो उनके प्रतिबिम्ब वाद पर भी पूरा-पूरा विचार न हो सकेगा। हो, प्रसंगवश इनता भर दिखा दिया जायगा कि अपने एक दोहे में अपने इस वाद को उन्होंने किस प्रकार व्यक्त किया है। कहते हैं—

"मैं समुझ्यौ निरधार, यह जगु कांचो कांच सों।
एकै रुपु अपार प्रतिबिम्बित लखियतु जहाँ॥ १८१॥"

इस पर बिहारी के परम पारखी श्री 'रत्नाकर' जी की टीका है— "निरधार=निश्चय। अपार = अनन्त।

(अवतरण) यह किसी ब्रह्म ज्ञानी अद्वैतवादी का वाक्य स्वगत अथवा किसी सत्संगी से है।—

(अर्थ) मैंने (तो यह) निर्धार [सिद्धान्त समझा है [कि] यह कच्चा [असत्य] जगत् कांच के समान है, जहाँ एक ही रूप [एक ही ईश्वर का रूप] अपार [अनन्त रूप से] प्रतिबिम्बित भासित होता है. [अर्थात् जगत् में जितने पदार्थ दिखलाई देते हैं, वे सब एक ही ईश्वर के अनन्त रूप की आभा-मात्र है।

निश्चय ही 'रत्नाकर' जी ने इस दोहे के 'अपार' का सम्बन्ध प्रतिबिम्ब अथवा जगत् से जोड़ा है कुछ 'रूप' अथवा ईश्वर से नहीं। पर क्या वस्तुतः यह ठीक है ? क्या सचमुच बिहारी 'कांचौं कांच' के अनन्त रूप के बिम्ब को एक ही दिखाना चाहते हैं अथवा उनका तात्पर्य यह है कि इस 'कांचौं कांच' में बस वही वह प्रतिबिम्बित हो रहा है जिसके रूप की इयत्ता नहीं !

अच्छा, तो सम्यक् विचार के लिये बिहारी का एक दूसरा दोहा लीजिये और उनके पक्ष पर पूरा-पूरा ध्यान दीजिये। कहते हैं—

"मोहन-मूरति स्याम की अति अद्भुत गति जोइ।
बसतु सुचित-अंतर तऊ प्रतिबिम्बितु जग होइ ॥ १६१ ॥"

इसकी टीका है—

"मोहन-मूरति=मोहने वाली मूर्ति है जिसकी ऐसे। यह समस्त पद 'स्याम' शब्द का विशेषण है।

(अवतरण)—कोई भक्त, जिसके हृदय में श्याम सुन्दर बस गए हैं, और जिसको समस्त जगत् में सब पदार्थ श्याममय ही दिखाई देते हैं, अपने मन से कहता है—

(अर्थ)—[हे मन] मोहनी मूर्ति वाले श्याम की [यह] अद्भुत गति (रीति, व्यवस्था) देख [कि यद्यपि] वे बसते [तो] चित्त के भीतर हैं, तथापि प्रतिबिम्बित जगत् में होते हैं (अपना रूप जगत् के सब पदार्थों में दिखलाते हैं, अर्थात् श्याम सुन्दर के हृदय में बसने से सर्व जगत् तन्मय दिखाई देने लगता है)।

अद्भुतता यह है कि जो वस्तु किसी अन्य वस्तु के भीतर रहती है, उसका प्रतिबिम्ब बाहर नहीं पड़ता; पर श्याम यद्यपि चित्त के भीतर बसते हैं, तथापि जगत् भर में उन्हीं का प्रतिबिम्ब भक्त को दिखलाई देता है।

'मोहन मूरति' यह विशेषण कविने यह सूचित करने के लिये रखा है कि श्याम सुन्दर की मूर्ति में ऐसी मोहनी शक्ति है कि उनके हृदय में बसते ही चित्त मोहित होकर सब जगत् को तन्मय देखने लगता है।"

श्री रत्नाकर जी ने प्रथम दोहे को "ब्रह्मज्ञानी अद्वैतवादी का वाक्य" माना है तो द्वितीय को 'भक्त' का, किन्तु है दोनों में ही प्रतिबिम्बवाद ही। एक ही 'वाद' 'ज्ञान' और 'भक्ति' के क्षेत्र में अपना कैसा गुण दिखा रहा है यह बिहारी का दर्शनीय काव्य-कौशल है। बिहारी के प्रतिबिम्बवाद पर खुल कर विचार करने की आवश्यकता है और भरसक यह भी दिखा देने की कि वस्तुतः ज्ञान और भक्ति के क्षेत्र में उनका पक्ष क्या और किस प्रकार उन्होंने दोनों का समन्वय कर एक में इसे दर्शा दिया है। सो प्रत्यक्ष ही बिहारी अपने अवतरित उक्त दोहों में इसका कुछ आभास अवश्य देते हैं। प्रथम में 'समुझौ निरधार' का व्यवहार करते हैं तो द्वितीय में 'मोहन मूरति' का, किन्तु परिणाम दोनों

का ही वही बताते हैं। परन्तु क्या रत्नाकर जी की टीका से यही बात सिद्ध होती है ? क्या 'अपार' का 'अनन्त' अर्थ इसके प्रतिपादन में बाधक नहीं होता और स्थिति को कुछ अस्पष्ट नहीं कर देता ?

हमारी समझ में तो 'अपार' 'रूप' का विशेषण है कुछ 'प्रतिबिम्ब' का नहीं। कारण कि उस ज्ञाताने तो स्पष्ट जान लिया कि यह समस्त जग 'कांच' का असत्य है और इसमें जो कुछ गोचर हो रहा है उसकी अपनी कोई निजी सत्ता नहीं, वह तो वस्तुतः उसी का आभास मात्र है। वास्तव में वह बिम्ब नहीं, प्रतिबिम्ब मात्र है। उसमें जो नानात्व दिखाई देता है उसका कारण कुछ यह नहीं है कि वस्तुतः वह नाना है भी, प्रत्युत यह है कि उस दर्पण में जो रूप दिखाई देते हैं वास्तव में वे उस रूप की छाया हैं जो 'अपार' है। 'अपार' होने के कारण ही उसके रूप भी अपार हैं। पर हैं वे वस्तुतः वही जो दृष्टि-भेद के कारण देश और काल को पाकर कहीं कुछ दिखाई पड़ते हैं तो कहीं कुछ। यह 'कहीं कुछता' रूप किंवा, 'काचों कांच' के कारण ही है। सचमुच नानात्व तो यहाँ है ही नहीं।

वह तो सम्यक् दृष्टि के अभाव में ही ऐसा भासता है।

अच्छा, तो ज्ञानी ने ज्ञान-दृष्टि से जिस सिद्धान्त को ग्रहण कर लिया उसी को भक्त ने भी किस 'कृपा' से प्राप्त कर लिया बात यह है कि भक्त समझ नहीं पाता पर जग की अलौकिक-लीला को देख कर चमत्कृत अवश्य हो उठता है और विस्मय के साथ देखता है कि उसके सामने संसार में चारों ओर वही रूप छाया हुआ है जो उसके हृदय में रम गया है। उसके अतिरिक्त कहीं कुछ अन्यथा दिखाई ही नहीं देता। उस तपस्वी को पता ही नहीं कि उसे क्या हो गया है और क्यों उसके हृदय के देवता विश्वभर में छा गये हैं। इसे वह 'माया' तो कहने से रहा, और कुछ कहे भी तो कैसे-कहे ? कहने को भी तो कुछ समझ चाहिये। उसके पास वह समझ कहाँ जो कुछ को कुछ कहती फिरे ? वह तो बस उस 'मूर्ति' पर निछावर हो चुका है जो उसके हृदय में बसती और अपनी योगमाया से यह लीला रचती है कि सर्वत्र वही वह दृष्टि पथ में आती है। कहिये, है न यह विस्मय की बात कि जो बसता तो घट के भीतर चित्त में है पर प्रगट दिखाई देता है घट के बाहर कण-कण में, और सो भी सदा उसी रूप में जो घट के भीतर विराजमान है ? अस्तु अन्य कोई इस जग को कुछ भी कहता रहे पर वह तो प्रत्यक्ष देखता है कि

यह उसके परम प्रिय रूप का दर्पण है जिसमें सर्वत्र वही वह गोचर ही रहा है। तभी तो किसी प्रेम-मत्त सूफी कवि का भी कहना है—

"दर दिवार दर्पण भयो जित देखौं तित तोहिं।
काँकर पाथर ठीकरी भयो आरसी मोहिं॥"

तात्पर्य यह कि भक्त भी अपने भाव में तथ्य को ग्रहण करता है जिसको ज्ञानी। हाँ, उनकी अनुभूति की साधना में अन्तर अवश्य होता है। भक्त को अपने भाव से जिस तत्त्व का भान होता है ज्ञानी अपने दिव्य ज्ञान से उसी को गहता है पर दोनों को बोध होता है अपने-अपने ढंग से उसी परम तत्त्व का। फलतः बिहारी स्पष्ट घोषणा करते हैं—

"अपनैं-अपनैं मत लगे बादि मचावत सोरु।
ज्यौं त्यौं सबकौं सेइबौ एकै नंद किसोरु॥ ५८१॥"

अन्तु। यदि 'वादी' लोग अपने-अपने 'मत' वा वाद के लिये व्यर्थ ही विवाद करते हैं तो करते रहें पर यथार्थ बात तो यह है कि वस्तुतः सभी अपने-अपने रूप में उसी परम रूप की उपासना करते हैं जो जग में सर्वत्र व्याप्त है और जिसके अतिरिक्त संसार में और कुछ है ही नहीं। यहाँ तक कि संसार भी केवल इसीलिये बना है कि उसमें उसका प्रतिबिम्ब पड़ता रहे जिससे सर्वत्र उसके उसी रूप का साक्षात्कार हो। निदान मानना पड़ता है कि उक्त दोहे में 'अपार' का सीधा सम्बन्ध बस उस 'रूप से ही है न कि 'प्रतिबिम्ब' से, जैसा कि रत्नाकर जी ने मान लिया है। विचार करने की बात है कि जिसे संसार में नानारूप अलग-अलग दिखाई देते रहें अथवा जो जग में नानात्व ही देखता रहा, वह भला प्रतिबिम्बवाद की अद्वैती सीढ़ी पर कब चढ़ा जो उसे 'एकै रूप अपार प्रतिबिम्बित लखियतु जहाँ, का उद्घोष करना पड़ा अतएव मानना पड़ता है कि बिहारी ने प्रकृत दोहे में अपने प्रतिबिम्बवाद का ही प्रतिपादन किया है और यत्र-तत्र प्रत्यक्ष दिखा भी दिया है कि अध्यात्म वा दर्शन के क्षेत्र में उन्हें प्रतिबिम्बवाद इतना क्यों प्रिय है। बिहारी के प्रतिबिम्ब-वाद पर फिर कभी स्वतंत्र रूप से विचार किया जायगा। संकेत के लिये यहाँ तो इतना ही पर्याप्त है।

—:०:—

१९—भूषण की राष्ट्रदृष्टि

भूषण देश के उन अभागे कवियों में मुख्य हैं जिनकी स्तुति तो दूर रही, उलटे भर्त्सना ही की जाती है। किसी ने उनको कामुक कह

दिया तो किसी ने चापलूस किसी ने उन्हें 'भाँड' बनाया तो किसी ने राष्ट्रद्रोही होने का फतवा दे दिया; यही नहीं, दिलेरी के साथ साहित्य के रंगमंच से घोषणा तक कर दी गई कि भूषण वस्तुतः मुसलिम-द्रोही थे—मुसलमानों से उनकी जानी दुश्मनी थी। हो सकता है, उक्त विधाताओं की सम्मति साधु हो। पर भूषण का परितः परिशीलन करने वाला व्यक्ति तो कभी उनका साथ नहीं दे सकता; क्योंकि वह अच्छी तरह जानता है कि वास्तव में भूषण एक राष्ट्रनिष्ठ सच्चे देश-प्रेमी कवि थे, जो कविकर्म को इतना पवित्र समझते थे कि—

ब्रह्म के आनन तें निकसे तें अत्यन्त पुनीत तिहूँ पुर मानी।
रामयुधिष्ठिर के बरने बलमीकिहु व्यास के अंग सुहानी।
'भूषण' यों कलि के कविराजन राजन के गुन गाय नसानी।
पुन्य चरित्र सिवा सरजै सर न्हाय पवित्र भई पुनि बानी।

हाँ, तो भूषण का एक मात्र अपराध यह था कि उन्होंने 'पुन्य चरित्र' शिवा सरजा का गुण-गान किया और उनके प्रतिद्वन्द्वी मुगल-सम्राट् औरंगजेब की भर्त्सना की। औरंगजेब की निन्दा क्यों की? क्या इसलिए कि वह इसलाम का भक्त, और दीनका कट्टर मुसलिम था? अथवा इस लिए कि वह हिन्दू-धर्म का विरोधी और नृशंस शासक था? भूषण स्वयं अपने पक्ष को प्रत्यक्ष कर देते हैं। उनका कथन है—

किबले की ठौर बाप बादसाह साहजहाँ,
ताको कैद कियो मानो मक्के आगि लाई है।
बड़ो भाई दारा वाको पकरिकै मारि डार्‍यो,
मेहर हु नाहिं माँ को जायो सगो भाई है।
बन्धु तौ मुराद बकस बादि चूक करिबे को,
बीच दै कुरान खुदा की कसम खाई है।
'भूषन' सुकवि कहै सुनौ नवरंगजेब,
एते काम कीन्हें तब पातसाही पाई है।

पातशाही प्राप्त कर औरंगजेब ने क्या किया, कुछ इसकी भी खबर है? स्वयं 'भूषण' के मुँह से इसे भी सुन लीजिए—

आदिकी न जानो देवी देवता न मानो साँच,
कहूँ जो पिछानो बात कहत हौं अब की।
बब्बर अकब्बर हिमायूँ हद बाधि गये,
हिन्दू औ तुरुक की कुरान वेद ढब की।

इन पातसाहन मैं हिन्दुन की चाह हुती,
जहाँगीर साहजहाँ साख पूरैं तब की।
कासी हूँ की कला गई मथुरा मसीत भई,
सिवा जी न होतो तो सुनति होति सब की।

स्पष्ट है कि शिवा जी की प्रतिष्ठा भूषण की दृष्टि में केवल इसी लिये है कि उसने अपने बाहुबल तथा पुरुषार्थ से—

वेद राखे विदित पुरान राखे सारयुत,
रामनाम राख्यो अति रसना सुघर मैं।
हिंदुन की चोटी रोटी राखी है सिपाहिन की,
काँधे में जनेऊ राख्यो माला राखी गर मैं।
मीड़ि राखे मुगल मरोड़ि राखे पातसाह,
बैरी पीसि राखे वरदान राख्यो कर मैं।
राजन की हद्द राखी तेगबल सिवराज,
देव राखे देवल स्वधर्म राख्यो घर मैं।

तथा—

राखी हिंदुवानी हिंदुवान को तिलक राख्यो,
अस्मृति पुरान राखे वेदविधि सुनी मैं।
राखी रजपूती रजधानी राखी राजन की,
धरा मैं धरम राख्यो राख्यो गुन गुनी मैं।
'भूषन' सुकवि जीति हद्द मरहट्टन की,
देस-देस कीरति बखानी तब सुनी मैं।
साहि के सपूत सिवराज समसेर तेरी,
दिल्लीदल दाबि कै दिवाल राखी दुनी मैं!

बस, इसी 'दीवार' के नाते भूषण ने शिवा जी के पुण्य चरित्र का गुण-गान किया, केवल हिन्दूपति होने के कारण कदापि नहीं।

शिवाजी ने औरंगजेब का विरोध कुछ इसलिये नहीं किया कि वस्तुतः वह मुसलिम था, बल्कि इसलिए किया कि जी-जान से वह हिन्दू की अरथी निकालने पर तुल गया था और प्रमादवश बाबर तथा अकबर की चिर परिचित उदार नीति का विरोध बन गया था। हिन्दुओं की रक्षा करना तो अलग रहा, उलटे उनके विनाश पर अड़ गया था। देखिए—

कुम्भकन्न असुर औतारी अवरंगजेब,
कीन्हीं कत्ल मथुरा दोहाई फेरी रब की।

खोदि डारे देवी-देव सहर महल्ला बाँके,
लाखन तुरुक कीन्हें छूट गई तब की।
'भूषण' भनत भाग्यो कासीपति विश्वनाथ,
और कौन गिनती मैं भूली गति भव की।
चारों वर्ण धर्म छोड़ि कलमा-निवाज पढ़ि,
सिवा जी न होतो तो सुनति होती सब की।

उधर औरंगजेब तो इस प्रकार की अनीति में लगा था और पक्का मुसलिम 'गाजी' बनकर हिन्दुओं का सर्वनाश कर रहा था और इधर का हाल यह था कि बड़े-बड़े प्रतिष्ठित हिन्दू राजे-महाराजे उसकी चाकरी में मग्न थे। केवल शिवा जी ही एक ऐसा हिन्दूवीर था जिसने हिन्दुत्व की लाज के लिए बहुतों से वैर मोल लिया और प्रत्यक्ष दिखा दिया कि देश में मुसलिम गाजी का सामना एक अति सामान्य हिन्दू गाजी भी कर सकता है, यदि उसे अपने स्वरूप और स्वभाव की चिन्ता हो और स्वधर्म तथा परमार्थ की निष्ठा में मग्न हो तो। अस्तु, भूषण का सगर्व उल्लास है—

अटल सिवा जी रह्यो दिल्ली को निदरि,
धीर धरि, ऐठ धरि, तेग धरि, गढ़ धरि कै।

औरंगजेब ही नहीं, उस समय का मुसलिम शासक बीजापुर का अली आदिलशाह भी कट्टरता में कुछ कम न था। उसके दरबार का राजकवि शेख मुल्ला नुसरति तो कहता है—

ऐ शाह आदिल तूं अली साहब है अब संसार का।
कुफ़ क़ार-भंजन जग-थमन मैं सूर कोई तुझ सार का?

अली आदिल शाह अपने को क्या समझता था, तनिक इसे भी देख लें। औरंगजेब चाहता है कि दोनों मिलकर शिवा जी को परास्त करें और हिन्दुत्व का नाम मिटा दें। उत्तर में अली आदिलशाह का निवेदन है—

कि हूँ मैं समीये नबी का खलफ़।
दुजा तिसप हम नाम शाहे नजफ़॥
लक़ब कुफ़ भंजन है मुझ बेगुमाँ।
सिफ़त दस्तगीरे फ़रो मादगाँ॥
मेरे काम पर मैं हूँ हाजिर सदा।
तुमारी बी करनी करो इब्तदा॥

मदद में हूँ मूज़ी प चल वेग आवो।
लड़ो मत तमाशा वले देख जावो ॥

कहने का तात्पर्य यह कि उस समय काफ़िरों के सर्वनाश की व्यापक कोशिश हो रही थी और इसी उद्देश्य से औरंगजेब तथा अली आदिल शाह एक हो रहे थे। इधर शिवा जी को सर करने के लिए—जसवन्त-सिंह और जयसिंह से हिन्दू राजपूत वीर दिल्ली की ओर से चल पड़े थे। फिर भी शिवा जी हताश न हुआ और धीरे-धीरे वह कर दिखाया जो समूचे भारत में उससे पहले किसी से भी न बन पड़ा था। भूषण ने शिवा जी के महत्व तथा अनुष्ठान को समझा और फलतः उसे अवतार के रूप में प्रतिष्ठित भी कर दिया—

दीन दयाल दुनी प्रतिपालक जे करता निरम्लेच्छ मही के।
'भूषन' भूधर उद्धरि त्रो सुने और जिते गुन ते सिव जी के।
या कलि में अवतार लियो तऊ तेई सुभाव सिवा जी बली के।
आय धरयो हरि तें नररूप पै काज करै सिगरे हरि ही के।

सचमुच शिवा जी ने हरि ही का काम किया। म्लेच्छों और आततायियों के साथ कभी संत-साधुओं या निरीह जनता का वध नहीं किया। शिवा जी के विषय में प्रसिद्ध ही है कि कभी उसने किसी मसजिद को नष्ट नहीं किया बल्कि सदा कुरान का आदर किया और कभी इसलाम पर तनिक भी आँच नहीं आने दी। और तो और, बड़े-बड़े शूर-वीर सामन्त भी हार जाने पर रणक्षेत्र से बचकर सुरक्षित इसी लिये चले जाते थे कि उन्हें 'हज' करने की उत्कंठा हो उठती थी। सुनिए—

साहिन के सिच्छक सिपाहिन के पातसाह,
संगर मैं सिंह के से जिनके सुभाव हैं।
'भूषण' भनत सिव सरजा की धाकते वै,
काँपत रहत चित गहत न चाव हैं।
अफजल की अगति, सायस्त खाँ की अपति,
बहलोल-विपति सों डरे उमराव हैं।
पक्का मतो करिकै मलिच्छ मन सब छाँड़ि,
मक्का के ही मिसि उतरत दरियाव हैं॥

विचार करने की बात है कि जिस भूषण और जिस शिवा जी के हृदय में मक्का के प्रति इतना धर्म-भाव है कि वैरी भी उसके नाम पर छोड़ दिये जाते हैं, वही शिवा जी और वही भूषण आज मुसलिम-विरोधी

और राष्ट्रद्रोही क्यों कहे जाते हैं। क्या कभी उन्होंने किसी इसलाम का अपमान किया है ? नहीं कदापि नहीं अच्छा तो फिर कारण क्या है ?

बात यह है कि भूषण ने शिवा जी की प्रशंसा में बार-बार उन्हें 'गाजी' कहा है—और कहीं कहीं औरंगजेब के प्रसंग में कुछ ऐसा लिख दिया है जो औरंगजेब के भक्तों को खल जाता है। भूषण ने औरंगजेब के जिस रूप की निन्दा की है वह दीन या मजहब के रूप की नहीं है। उसमें केवल उस रूप का निदर्शन भर कर दिया गया जो हिन्दुत्व का विनाशक था। तभी तो उससे भूषण की प्रार्थना है—

दौलति दिली पाप कहाये आलमगीर,
बब्बर अकब्बर कै बिरद बिसारे तैं।
'भूषन' भनत लरि लरि सरज़ा सो जंग,
निपठ अभंग गढ़-कोट सब हारे तैं।
सुधर्‌यो न एकौ काज भेज़ि-भेजि वे ही काज,
बड़े-बड़े वे इलाज उमराव मारे तैं।
मेरे कहे मेर करु, सिवा जी सों बैर करि,
गैर करि नैर निज नाहक उजारे तैं॥

साथ ही औरंगजेब के मंत्री भी गिड़गिड़ाते हैं कि—

पूरब के उत्तर के प्रबल पछांह हूँ के,
सब पातसाहन के गढ़ कोट हरते।
'भूपन' कहैं यों अवरंग सों वजीर, जीति,
लीबे को पुरतगाल सागर उतरते।
सरजा सिवा पर पठावत मुहीम काज,
हजरत हम मरिबे को नहिं ड़रते।
चाकर है उजुर कियो न जाय, नेक पै
कछू दिन उबरते तो घने काज करते॥

हाँ, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि यदि शिवा जी से बैर न कर औरंगजेब उससे मेल करता और बाबर तथा अकबर की नीति पर चलता तो शीघ्र ही वह विश्व का सम्राट् हो सकता था, किन्तु उसके हृदय की संकीर्णता और विचार की कठोरता ने उसे और कुछ भी न होने दिया। फिर भी आज प्रमादवश वही वर्ग विशेष के लिए 'गाजी' हो रहा है और उदार समन्वयवादी शिवा जी आज 'नुसरती के मुँह से।'

भरया था सब उस जात में मकोरेब,
दिसे आदमी रूप पर नख्ल देव।

दिखावे जो टुक अपनी तब्लीस कों,
लगे वर्द लाहौल इब्लीस को।

खैर, यही सही। पर कृपया इतना और नोट कर लीजिए कि भूषण ने औरंगजेब के तप और तेज की प्रशंसा भी कुछ कम नहीं की है। उसके शौर्य तथा त्याग को सराहा भी है। उसके औलियापन का उल्लेख किया है, और यह दिखा दिया है कि उसके प्रताप के आगे बड़े-बड़े प्रतापी राजा भी नतमस्तक हो गये थे। कारण था उसका हिन्दू-द्वेष। यदि वह वृथा द्वेष न करता तो हिन्दुओं को किसी 'गाजी' की जरूरत न पड़ती और फलतः मुगल-मुसलिम शासन भी छिन्न-भिन्न हो कर चकनाचूर न हो जाता।

संक्षेप में भूषण के विचार से—

संकर की किरपा सरजा पर जोर बढ़ी कवि 'भूषन' गाई।
ता किरपा सुबुद्धि बढ़ी भुव भौंसिला साहितनै की सवाई।
राज सुबुद्धि सों दान बढ़यो, अरु दान सों पुन्य समूह सदाई।
पुन्य सो बाढ़यो सिवा जी खुमान खुमान सों बाढ़ी जहान भलाई॥

बस, इसी 'जहान की भलाई' के नाते शिवा जी भूषण के इष्टदेव या सपूत हिन्दू शासक हैं। 'भूषण' की दृष्टि में हमारा सच्चा राष्ट्रपति वही हो सकता है जो किसी धर्म वा संम्प्रदाय का द्वेषी न हो, बल्कि मनुष्यमात्र के हित में लीन रहता हो और जो हिन्दू-मुसलिम-एकता का अर्थ हिन्दुत्व का विनाश ही नहीं अपितु उसका उत्थान भी समझता हो। संक्षेप में बाबर और अकबर की नीति का शासक हो, कुछ औरंगजेब का अन्धा भक्त नहीं। शिवा जी हिन्दू था, और उसकी नीति थी एकता और समता की, द्वेष और ईर्ष्या की कदापि नहीं। संक्षेप में उसका स्वरूप था सभी प्रकार से सम्पूर्ण कारण—

जोर रुसियान को है, तेग खुरासानहू की,
नीति इंगलैंड, चीन हुन्नर महादरी।
हिम्मत अमान मरदान हिन्दूवान हू की,
रूम अभिमान, हबसान हद कादरी।
नेकी अरबान, सान, अदब ईरान त्यों ही,
क्रोध है तूरान, ज्यों फरांस फंद आदरी।
भूषन भनत इमि देखिए महीतल पै,
बीर-सिरताज सिवराज की बहादरी।

बस, यही वीरशिरोमणि शिवराज भूषण का वीर बाँकुड़ा है। इसमें सभी जातियों की विशेषतायें आ जमी हैं। ध्यान से देखिए तो पता चले कि भूषण की नीति-परख कैसी थी और किस जाति के किस गुण का साक्षात्कार उसे शिवा जी में कैसा होता था। सचमुच ऐसी व्यापक वीरता शिवा जी के अतिरिक्त अन्यत्र कहाँ थी जो भूषण उसका गुण गान करते? भूषण की व्यापक और गभीर राष्ट्रदृष्टि का पता तभी चल सकता है जब आप उसकी इस जानकारी को इतिहास की आँख से देखें और 'नेकी अरबान' को 'क्रोध तूरान' से अलग कर समझें। 'सान-अदब ईरान' को भी न भूलें फिर तो आप का सारा इतिहास आप ही बोल उठेगा। 'जोर रुसियान' और 'नीति इगलैंड' का कहना ही क्या, 'चीन हुन्नर' भी तो यहीं है? फिर चिन्ता किस बात की?

—:०:—

२०—देवकी स्वभावोक्ति

बचपन में हमें रटाया गया था कि देवजी हिन्दी के सबसे बड़े कवि हैं पर महात्मा होने के नाते तुलसी और सूर उनसे बढ़कर माने जाते हैं। कुछ दिनों तक हम इसी के पाठ में प्रपन्न थे और दूसरों से भी इसी का पाठ कराना चाहते थे। परन्तु विद्वानों की कलित कामना ने कुछ मतभेद डाल कर हमारे चिन्तन की बाढ़ को यहाँ तक बढ़ाया कि विश्वास का बाँध बह गया। हमें सन्देह हो गया कि मिश्र-मंडली की एकता में कुछ रहस्य है। हम यहाँ पर देव और बिहारी के पचड़े में पड़ना अनुचित ही नहीं हेय भी समझते हैं। ध्येय तो केवल यही देखने का है कि देवजी के अध्ययन में "देव और बिहारी" से कहाँ तक सहायता मिलती है। यदि सत्य कहना गर्हित नहीं है तो हम कह सकते हैं कि "देव और बिहारी" के पठन के उपरान्त हमारे हृदय में देवजी के लिए वह स्थान न रह सका जिसका प्रयास उसके विज्ञ समालोचक ने दिल तोड़ कर किया है। यही क्यों? उस समालोचक पर से विश्वास भी उठता जा रहा है।

मिश्रजी के शब्दों में यदि हम कहना चाहें तो देवजी "गम्भीरता पूर्वक भाव का निर्वाह करने में अद्वितीय हैं। स्वभावोक्ति और उपमा के वर्णन में देवजी अपना जोड़ नहीं रखते।" अतः हमारा धर्म है कि हम देवजी पर विचार करते समय इस बात पर ध्यान रखें कि वे स्वभा-वोक्ति में परमपटु और 'मानुषी प्रकृति' तथा 'प्राकृतिक वर्णन' में सूक्ष्म-

दर्शी हैं। विवेचन के लिए उचित होगा कि हम एक उसी अंश पर विचार करें जिसमें देवजी के प्रकृत गुणों का प्रकाशन किया गया है। हमारा विश्वास है कि यदि हम 'देव और बिहारी' की 'तुलनात्मक समालोचना' में से 'क' भाग को लें तो किसी को विशेष आपत्ति न होगी। क्योंकि उसी में प्रकृत विषय के बीज का श्रीगणेश है।

'स्वाभाविकता-प्रिय देवजी विरह-वश कृशतनू नायिका' के विषय में लिखते हैं "देवजू आज मिलाप की औधि, सु बीतत देखि विसेखि बिसूरी; हाथ उठायो उड़ायबे को उड़ि काग-गरे परीं चारिक चूरी।" विज्ञ समालोचक की समझ में इसमें स्वभावोक्ति है।

अलंकारशास्त्र से परिचित लोग यह भली भाँति जानते हैं कि बहुत से आचार्य स्वभावोक्ति को अलंकार ही नहीं मानते। परन्तु यह तो निश्चित ही है कि कुछ लोग उसके बड़े ही भक्त हैं। तो भी यहाँ पर स्वभावोक्ति पर विचार करना विषयांतर होगा। हमें तो बस केवल यही विचार करना है कि क्या वस्तुतः प्रस्तुत पद्य में स्वभावोक्ति है। और यदि है, तो इसमें किसी को सन्देह नहीं होना चाहिए कि सचमुच काग के गले में चार चूड़ियाँ उड़ कर पड़ गईं। यदि नहीं, तो समालोचक ही जानें।

शकुन विरह की थपकी है। जो लोग बुद्धि-व्यय से चिढ़ते हैं वे तो इसको अन्धविश्वास कहते ही रहेंगे पर जो लोग भावुक हैं, मनोविकारों के चढ़ाव-उतार से परिचित हैं, वे इसको ध्रुव समझते हैं कवियों के संसार में सदा से इसका सत्कार होता आया है। महात्मा तुलसीदास तक काग के इस शकुन का वर्णन करते हैं। शरीर की कृशता के वर्णन करने की यह पद्धति पुरानी है। अपभ्रंश-काल का यह दोहा "वायसु उडावन्ति अए, पिउ दिठ्ठउ सहसन्ति। अद्धावलया महिहि, अद्धाफुट्ट तडत्ति।" बहुत ही विख्यात हो चुका है। स्थान-स्थान पर उसके रूपान्तर की भनक कान में पड़ जाती है। संभवतः देवजी के पद्य का आधार भी यही दोहा है। दोहे का प्रचलित रूप कुछ इस प्रकार का है। "काग उड़ावय जाँवती, पिय दीठों सहसत्ति। आधी चूड़ी काग-गल, आधी टूट तड़त्ति।" प्रस्तुत दोहे का भाव बहुत ही मार्मिक है। वियोग के कारण जो शरीर इतना क्षीण था कि काग के गले में उसके हाथ की चूड़िया गिर कर पड़ गईं वही पति को देखकर फिर इतना पुलकित हुआ कि शेष चूड़ियाँ उसके हाथ में ही खिंच कर टूट गईं, भला वह शरीर मनोविकारो के ज्वार-भाटे का सागर नहीं तो और क्या है? पर खेद है

कि दोहे के कवि ने अपनी कल्पना की उड़ान में एक अनिष्ट बात कह डाली। चूड़ी का टूटना वैधव्य का बोधक है।

माना कि देवजी के प्रकृत पद्य में इस अमंगल से कुछ बचाव हो गया है पर उसके उद्‌गार में दोहे का सतांश भी नहीं है। हाँ देवजी की नायिकायें काग उड़ाने में सदा तत्पर रहती हैं। एक नायिका के विषय में आप कहते हैं। "सिगरौ दिन कामिनि काग उड़ावै।" वस्तुतः 'सिगरौ' की कृपा से वह 'कौवा-हँकनी' सी प्रतीत होने लगती है। हमारी समझ में चूड़ी का काग के गले में उड़ कर पड़ जाना सौभाग्य का सहायक नहीं कहा जा सकता। स्वयं देवजी इस भेद से परिचित थे। क्योंकि उनकी एक नायिका कहती है "साथ मैं राखिए नाथ उन्हें, हम हाथ में चाहतीं चारि चुरी ये।" हम भी यही चाहते हैं कि किसी सधवा की चूड़ी उड़ कर कभी किसी काग के गले न पड़े। शकुन का यह उपहार!

देवजी का शब्द-शोधन कितना श्लाध्य है तथा उनकी दृष्टि कितनी पैनी है, आदि बातों का पता इसी 'उड़ि' शब्द से लग जाता है। देवजी की यह छलाँग उसी प्रकार हृदय में चुभती है जिस प्रकार बधिक का छर्रा।

सबसे पहले नायिका की मुद्रा पर ध्यान दीजिये। समय तो सायंकाल का है ही। क्योंकि 'मिलाप की औधि' बीत रही है। सम्भवतः काग भी छत पर बैठा है। तो उसकी बाँह किस स्थिति में है? पड़ी, खड़ी, गिरी वा उठी! स्वभावतः चूड़ी भूमि पर ही गिरेगी जैसा कि अपभ्रंश के दोहे से स्पष्ट है। किन्तु आप कहेंगे कि देवजी का काम भी भूमि पर ही है, अच्छा, यही सही, पर इसमें 'जाँवती' का विधान कहाँ है? कुछ भी हो स्थिति पर विचार तो करना ही होगा। जो हो, काग के गले में चूड़ी पड़ी अवश्य। आप इसको अन्यथा नहीं मान सकते। कारण कि बहुदर्शी समालोचक इसमें स्वभावोक्ति ही बतलाते हैं। तो सचमुच नायिका का निशाना बड़ा ही वेढब है। और यदि चूड़ी गले में ठीक ही पड़ जाती है तो संभवतः क्या वस्तुतः उसका व्यास बड़ा होगा और फलतः उसकी कलाई भी मोटी ही होगी। क्योंकि काग की चोंच भी कुछ लम्बी होती है। देखा? समालोचकजी देवजी की भद्द उड़ाने में कितने सफल हो रहे हैं! तो क्या इसमें अतिशयोक्ति अलंकार है? यदि नहीं तो नायिका बड़ी ही भद्दी तथा मोटी होगी।

चूड़ी उड़ नहीं सकती। अतः 'उड़ि' का अर्थ वेग से जाकर है।

वेग से वही वस्तु जाती है जो बल के साथ फेंकी जाती है। अतः 'उड़ि' से व्यंजित होता है कि नायिका सबला है, हृष्टपुष्ट है। कहिए, है न विरह.का यथार्थ वर्णन ?

उपर्युक्त विवेचन के उपरान्त हमारा जी तो नहीं चाहता कि हम देवजी को हिन्दी का सबसे बड़ा कवि और उनके उपासकों को साधु समालोचक समझें। प्रस्तुत पद्य के प्रत्येक पद तथा शब्द पर विचार करने की क्षमता पाठकों में कहीं अधिक है। अतः हम उन्हीं पर इसका भार छोड़े देते हैं। यदि हमारे कथन में 'शुद्ध भ्रम' नहीं है और हमारी आपत्तियाँ थोथी तथा छिछली नहीं हैं तो हम देवजी को सबसे भड़कीला कवि भले ही कह कर अपने हृदय की प्यास बुझा लें पर भूल कर स्वप्न में भी हम उनको सबसे बड़ा कवि अब नहीं मान सकते। हमारी समझ में तो देवजी की कविता-कामिनी किसी धोबी के दुलहे के लिए ही 'फिट' है। उसमें सब कुछ है पर वह कुछ नहीं जिसे 'सुमति-हुलास' कहते हैं।

—:o:—

२१—नूरमोहम्मद की एक कविता

हिन्दी कवियों में नूरमोहम्मद का क्या स्थान है, इसकी चर्चा यहाँ न होगी और न होगा यहाँ इस पर विचार भी कि उन्होंने किस भाषा में क्या काम किया। अरबी में उन्होंने कुछ लिखा अवश्य, किन्तु वह कुछ विशेष न बन सका। फ़ारसी में उन्होंने जो कुछ लिखा उसका संग्रह भी कर दिया, किन्तु फारसी के इतिहास में कहीं उनका उल्लेख हुआ, इसका इस जन को कुछ पता नहीं। हाँ, उनके वंशधर मौलवी फ़िदा हुसैन के पास उनका एक फारसी दीवान देखने में आया था। इस दीवान के साथ कुछ अन्य रचनाएँ भी थीं जो उस समय समयाभाव के कारण देखी न जा सकीं और अब समय मिलने पर उन्हें देखना चाहें तो देख भी नहीं सकते। पता नहीं उनका क्या हुआ।

नूरमोहम्मद को फ़ारसी के लोग भले ही न जानें परन्तु हिन्दी के लोग उन्हें भूल नहीं सकते। नूरमोहम्मद न जाने क्यों पहले हिन्दी में तो अपने मूल नाम ही से रचना करते थे, परन्तु फिर फ़ारसी के प्रसाद से नूरमोहम्मद से 'कामयाब' हो गए थे। 'कामयाब' उपनाम कभी किसी कार्य में 'कामयाब' होने पर सूझा होगा, ऐसी कल्पना की जा सकती है। हम देखते भी हैं कि अपनी अनूठी रचना 'इन्द्रावती' की समाप्ति के उपरान्त ही उन्होंने यह उपनाम लिया। 'नलदमन कहानी' का उल्लेख

उन्होंने स्वयं किया है पर अभी तक उसका कोई पन्ना उपलब्ध नहीं हुआ, अतः नहीं कहा जा सकता कि उसमें उनकी छाप क्या थी; परन्तु उनकी अनूठी रचना, जिसका सम्पादन इस जन ने किया है और जिसका प्रकाशन हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन प्रयाग से हुआ है, इस बात की गवाही है कि उन्होंने 'कामयाब' उपनाम का उपयोग उसमें भी किया है। कहते हैं—

"कामयाब कहँ कौन जगावा, फिर हिन्दी भाखै पर आवा।
छाड़ि पारसी कन्द नबातैं, अरुझाना हिन्दी-रस-बातैं॥
आगे हिन्दि-समुद्र तिराना, भाखा इन्द्रावति जो जाना।
फेर कहा 'नलदमन' कहानी, कौन गनावै दूसरि बानी॥
यह इग्गारह से अठहत्तर, फेर सुनाएउ बचन मनोहर।
ता मन कै अभिलाख बढ़ावा, जासों फेर सुबचन सुनावा॥

करत विचित्त चित्त लै, राग सुनाइ।
औ अनुराग-बाँसुरी, मधुर बजाइ॥"

अस्तु, इस 'अनुराग-बाँसुरी' और इस 'नलदमन' तथा इस 'इन्द्रावती' का विचार हिन्दी में होना चाहिए और देखना यह चाहिए कि हिन्दी-काव्य-रचना में इसका सत्कार क्या होता है। किन्तु यह तो 'होना चाहिए' की बात ठहरी जो कभी अवसर पाकर किसी से हो सकेगी। बताना तो यहाँ यह है कि नूरमोहम्मद अथवा 'कामयाब' की स्फुट रचना भी कुछ कम चोखी नहीं है। विश्वास न हो तो उनका यह कवित्त लीजिए—

"बिरछन के तरें झरे पातन कौं छाड़ि दीजै,
परे रहैं हम सें वियोगी बिछुराए हैं।
भए बलहीन पीत अंग हूँ गए हैं सूख,
झर परे रूख तें सरीर दुःख पाए हैं।
'कामयाब' इनकौं न जारिए अगिन डारि,
कीजिए न छार ये वियोग ताप ताए हैं।
आए हैं पराए काज, मानुख पखेरू कोऊ,
छाँह ताकि इनके समीप चलि आए हैं।"

'कामयाब' का यह कवित्त किस कोटि का है और इसे काव्य की किस श्रेणी में स्थान मिलेगा इसका हिसाब-किताब हिसाबी लोग करें। हमें तो यहाँ कहना इतना भर है कि 'कामयाब' को समझने और उनके

हृदय में भली भाँति पैठने के लिए इतना ही पर्याप्त है। 'कामयाब' ने इसमें अपने जी की सारी बात कह डाली है, कुछ खुली और कुछ छन्न भी। खुली बात तो है 'झरे पत्तों' पर आप की दया और दया का कारण है उनका वियोग। भला सच्चा कवि-हृदय और सो भी एक सच्चा सूफी कवि-हृदय कभी वियोग को भूल सकता है ? अरे ! आपने इन पड़े सूखे पीले पत्तों को क्या समझ लिया है और क्यों इन्हें आग में झोंक कर छार कर रहे हैं ? क्या आप की दृष्टि में इनका और कोई उपयोग ही नहीं ? नहीं, ध्यान से देखिए। नूरमोहम्मद आप को इनका उपयोग बताते हैं।

अच्छा ! तो पत्ते हैं क्या ? क्या आप नहीं जानते कि हमारी भाँति ही ये भी अपने मूल स्थान से अलग हो गये हैं और फलत: उसी वियोग में पड़ कर निर्बल हो गये हैं, पीले पड़ गये हैं और गये हैं सूख भी। किन्तु क्या इससे उनके प्रेम में कहीं से कोई खोंच लगी है ? नहीं, ऐसी बात कुछ भी नहीं है। उनके शरीर को इससे अवश्य ही इतना कष्ट हुआ है किन्तु उनके जी को नहीं। कारण, वह तो सदा उसके पास ही है। तो क्या इस शरीर को आग में डाल कर दग्ध कर दिया जाय ? नूरमोहम्मद कहते हैं कि नहीं ऐसा भी न करो। इनको आग में डाल कर राख क्यों बनाते हो ? क्या इतना भी नहीं देखते हो कि ये स्वयं वियोग के ताप में तप रहे हैं ? फिर इनको किसी अन्य ताप की आवश्यकता क्या ? अच्छा ! तो पूछते हो कि ऐसे ही छोड़ देने में इनकी उपयोगिता क्या ? तो क्या अभी इतना भी नहीं जानते कि ये सदा परोपकार ही में लगे रहते हैं और आज भी कोई न कोई मनुष्य अथवा पक्षी छाया देख कर यहाँ तक चला आयेगा और इनकी देह-दशा को देख कर अपनी गति बनाएगा। वृक्ष के पत्ते वृक्ष के नीचे पड़े-पड़े जिस वियोग-कथा को कहने में लीन हैं उसकी इति यहीं नहीं होती, अपितु उसका रहस्य कुछ और है, नूरमोहम्मद ने इसके द्वारा कुछ और भी कहा है। कवित्त को सचेत हो पढ़िए और 'कामयाब' के अध्यात्म-हृदय को इसमें ढूँढ़ निकालिए।

सो आप से कदाचित यह कहने की आवश्यकता न रही कि आप मानव शरीर के साथ क्या व्यवहार करें। माना कि वह आज प्राणहीन हो गया है और अपने प्रिय के वियोग में अपना सब कुछ खो चुका है, परन्तु अब भी उसका कुछ उपयोग है। आप इस पर तो कुछ ध्यान देते नहीं, उलटे बड़ी निर्दयता के साथ उसे आग में डाल कर भस्म कर देते

हैं और उसका कोई चिह्न तक नहीं रहने देते। देखिए, आपका यह कार्य ठीक नहीं। चाहिए तो यह कि आप उसे वहीं कहीं दफना दें और देखें यह कि किस प्रकार लोग वहाँ उसके पास आते और उससे विश्राम पाते हैं। वह अब भी इस प्रकार पथिकों का आश्रय और पक्षियों का सुखदाता बना रहेगा। परोपकार का मार्ग यही है और इसी से प्रेमी अपने प्रेम-पथ पर अग्रसर होते और बल पकड़ते रहते हैं। झरे पत्ते भी प्रेम की ही पुकार मचाते और दग्ध हृदय को शान्ति का उपाय बताते हैं। बात तो यही है पर कही किसी ढंग से, किस खूबी के साथ गयी है। संक्षेप में इसमें जो कुछ कह दिया गया है वह बड़े-बड़े पोथों में भी इस रूप में नहीं आ सकता और कदाचित् आ भी गया तो उसका यह प्रभाव कहाँ पड़ सकता है! 'कामयाब' की इस 'कामयाबी' पर सचमुच किसको गर्व न होगा और सचमुच कौन कृपण हृदय इतना कठोर होगा कि एक बार समझ कर इसे पढ़े और फिर इस पर विचार न करे। सच है अपनी वाणी में अपने देश की बात जैसी खरी उतरती है उतनी दूसरी बानी में दूसरे देश की बात नहीं। और यही तो कारण है कि 'दीन जेंवरी करकस माँजेउ, की घोषणा करने वाले नूरमोहम्मद अपनी बानी को कभी नहीं भूलते और घूम फिर कर फिर उसी में रचना करते हैं।

नूरमोहम्मद की रचना में क्या है, इसका आभास कुछ न कुछ आपको मिल ही गया होगा। मोहम्मद शाह 'रंगीला' तक किसी न किसी प्रकार मुगल-साम्राज्य बना रहा और बना रहा उसी के साथ-साथ सूफी रचना का वह भाव भी जो कुछ न कुछ इस रचना में आपको अवश्य दिखाई देता है। फिर क्या हुआ, इसको जान कर क्या कीजिएगा। जानिए तो यहां इतना ही जितना कि वस्तुतः इस रचना में नूरमोहम्मद जनाना चाहते हैं। सो वह स्पष्ट ही कहते हैं—

"—'कामयाब' इनकौं न जारिए अगिन डारि,
कीजिए न छार ये वियोग ताप ताए हैं।"

अरे! इस वियोगी देश में कौन ऐसा संयोगी है जो किसी न किसी ताप से न जला हो। फिर आप मनुष्य होकर उस पर दया क्यों नहीं करते और क्यों उसे भाँति-भाँति की आग में और भी जलाते जाते हैं? बस, उपकार का पाठ पढ़ो, उपकार करो। व्यर्थ की छेड़-छाड़ से कोई लाभ नहीं। ताप से परिताप मिलेगा, तृप्ति नहीं।

—:०:—

२२—नागरीदास का गद्य

मुहम्मदशाह रँगीले के शासन (सन् १७१६—१७४८ ई०) में हिन्दी-गद्य किस ढब से आगे बढ़ रहा था और ब्रजभाषा को चारों ओर से सम्पन्न बना रहा था, इसका उल्लेख हमने 'मुग़ल बादशाहों की हिन्दी[1]' में कर दिया है, और यह भी स्पष्ट दिखा दिया है कि यदि देशी (हिन्दुस्तानी) पार्टी में बुद्धि और नीति का अभाव न होता और परदेशी (ईरानी तूरानी) पार्टी की जीत न हो जाती तो आगे चलकर भविष्य में न तो हिन्दी-उर्दू का विवाद ही उठता और न ब्रजभाषा और खड़ी बोली का प्रश्न ही। ब्रजभाषा में गद्य का अभाव न था, पर परदेशियों और अँगरेज़ों[2] ने मिलकर उसका अभाव कर दिया। हम अपने कथन के प्रमाण में हिन्दी के अनूठे, पर अभागे कवि, नागरीदास के गद्य के कुछ उदाहरण देते हैं और आशा करते हैं कि हिन्दी के स्वयंभू लेखक कुछ इधर भी दृष्टि दौड़ाने की कृपा करेंगे।

नागरीदास राज-पाट छोड़कर भाषा की ओर लपके थे और ब्रजभाषा में कीर्तन और प्रेम का प्रसार करने में मग्न थे। निदान कभी-कभी पदों के गाने के विधान में संकेत रूप से गद्य लिख जाते थे। पर उनका यह रूप बहुत ही नगण्य है। उनके गद्य के तीन रूप मुख्य हैं, जिन्हें हम 'वचनिका,' 'अर्थ' और 'प्रसंग' के रूप में पाते हैं। 'वचनिका' की परम्परा पुरानी है। टीका और अर्थ की परिपाटी भी नवीन नहीं। हाँ, लिखने के ढंग में कुछ नवीनता अवश्य आ गई है। आज वह बहुत कुछ कथंभूती प्रणाली से दूर है। 'प्रसंग' की रचना

१—यह पुस्तक नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी से प्रकाशित हुई है।

२—देश में ऐसे नामधारी डॉक्टरों और विधाताओं की कमी नहीं, जो हिन्दी-गद्य को उर्दू और अँगरेजी की देन समझते हैं। उनके मुँह में जो फोर्ट विलियम कॉलेज घुसा है वह भी उनके खिलाफ गवाही देता है। उसमें अनेक पुस्तकों का ब्रजभाषा से 'खड़ी बोली' में अनुवाद हुआ। और तो नहीं; पर यहाँ इतना अवश्य कहेंगे कि नागरीदास ने जो कुछ लिखा है वह फोर्ट विलियम कालेज के जन्म (सन् १८०७ ई०) से कहीं (सन् १८०० ई०) पुराना है, और उसका अँगरेजों तथा मुसलमानों से तनिक भी सम्बन्ध नहीं है। आज भी हिन्दी-गद्य की शैली वही है; हाँ, भाषा में कुछ भेद अवश्य है। याद रहे, हिन्दी की परम्परा उर्दू से बिलकुल अलग और स्वतंत्र है। ध्यान से प्रगट देख लीजिए।

वार्ता के ढंग की है। लोग कहेंगे कि नागरीदास ने 'वैष्णवन की वार्ता के आधार पर 'पद-प्रसंग' की रचना की है। पर हमें इसमें पूरा सन्देह है। हम 'वार्ता' को 'पद-प्रसंग' का परिणाम नहीं समझते हैं। वार्तायें गोकुलनाथ जी की लिखी तो हैं ही नहीं, फिर चाहे जिसकी हों।

सबसे पहले 'श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्। अर्चनं वंदनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥" का अर्थ लीजिए—"भगवान् के गुननि को श्रवण अरु कीर्तन, अरु प्रभु के स्वरूप लीला गुननि को स्मरण अरु चरणारविन्द की सेवा अरु प्रभु के श्रीविग्रह को अर्चन सुगन्ध पुष्प अलंकारादि करिकैं अरु वन्दन कहिए प्रभु कौं साष्टांग प्रणति अरु दम्भ छाँड़ि कैं भगवान् को दास्य भाव अरु सख्य कहियें प्रभुकौं सकल पुरुषार्थ-दायक परमहितकारक जानैं, वामैं दृढ़ विश्वास अरु आत्मनिवेदन कहिए। अपने पुत्र कलित्र द्रव्य दे प्रभु की सेवा विषैं समर्पण करैं।" (नागर-समुच्चयः। वैराग्यसागर, ज्ञानसागर प्रेस, सन् १८९८ ई०, पृ० ५)

अब एक दूसरा कथंभूती अर्थ भी देख लीजिए। श्लोक है—"साधवो न्यासिनः शांता ब्रह्मिष्ठा लोकपावनाः। हरन्त्यघंतेऽगसंगात्तेष्वास्ते ह्यभिद्धरिः ॥" इसका अर्थ किया है—

"साधुजन अपने अंगसंगतैं तिहारे पाप हरेंगे, अरुते वे साधु कैसे हैं त्यागी हैं अरु शुद्ध अंतःकरण है अरु ब्रह्म के जाननहार हैं। अरु लोक को पवित्र करणहार हैं अरु तिनके विषैं पापन के हरणहार हरि विराजै हैं।" (वही, पृ० २४) भक्तमगप्रदीपिका (जिसकी रचना सं० १८०२ वि० में हुई) इस प्रकार के अर्थ से भरी है। अतएव नागरीदास की अर्थशैली के अध्ययन के लिए उसका स्वयं अवलोकन करना चाहिए। उसके अतिरिक्त अन्यत्र भी कुछ 'अर्थ' दिखाई दे जाते हैं। पर अर्थ की शैली प्रायः परतंत्र ही रह जाती है। अतएव उसे यहीं छोड़ तनिक 'वचनिका' का रंग देखिए।

'वचनिका' की प्रणाली 'चम्पू' के भीतर आ जाती है अथवा नहीं, इसका विचार पंडितमंडली करे। अपने राम का कहना तो यह है कि नागरीदास ने इसे भी खूब अपनाया है। एक उदाहरण लीजिए—

"प्रथम सुन्दर ठौर होय, तहाँ कदलीखम्भ वन्दनमालावली धूप-दीप करिकैं जथाशक्ति रचना रुचिर बनाइयें ताकौं देखि ध्यान उपजैं, ऐसी या वस्तु के पात्र होय तिनकौं आमंत्रन करि बुलाइयै। तिनकौं लिखिए यह कवित्त ॥ महा कलिकाल घोर पावत न ओर-छोर भोर साँझ नित ही कुसंग मति छीजिए। यातैं अब कीरतन ब्रह्मजग्य रचनां को भयो है

आरम्भ सुख लीजे सुख दीजिए ॥ समयो न चूकनौं है सर्वोपर काज यहैं मन मैं विचारि कैं हमारो कह्यो कीजिए। दसधा को साधन समागम हैं साधनि को कृष्णकथा कीरतन को भाग आय लीजिए ॥ १ ॥ बचनिका ॥ फिर सुभ दिन देखि, आरम्भ कराइए ता आरम्भ के समैं प्रथम मुख्य श्रोता होय सो पूजा करि आरती करैं, ता समैं गवइया इह आरती को पद गावैं जथा समैं राग। आरती श्री भागौत की कीजैं श्रवन सुनत जीवन फल लीजैं। गोघृत रचत कपूर की बाती निरखत जोति-जोति भई छाती। जनम-जनम के बन्धन जारे। भव सागर में बहुत उबारे। तीन ताप करि डारे मंदे। नागरिदास फिरत आनंदे ॥ २ ॥" (वही, पृ० १४४-५)

नागरीदास ने इसी प्रकार गद्यपद्यमय 'श्रीमद्भागवतपारायनविधि' की रचना सं० १७६६ वि० में की और ब्रजभाषा-गद्य का एक नमूना सामने रख दिया। पाठक चाहें तो पूरे ग्रंथ का 'पारायन' करें और अवसर हाथ लगने पर उसका आचरण भी।

नागरीदास के फुटकर गद्यों के विषय में कुछ विशेष रूप से कहने की आवश्यकता नहीं। गद्य में उनका एक पूरा ग्रन्थ ही उपलब्ध है। उसका नाम है 'पदप्रसंगमाला'। इसमें अनेक प्रसंगों का उल्लेख करते हुए यह बताया गया है कि किस प्रसंग पर किस पद की रचना हुई। पुस्तक की उपयोगिता के विषय में कुछ कहना ही व्यर्थ है। अभी तो वह अरण्यरोदन ही समझा जायगा। उदाहरण के लिए एक नामदेव का पदप्रसंग लीजिए और देखिए कि भाषा का रंग क्या और कैसा है। वह पदप्रसंग यह है—

"वैष्णव श्री नामदेवजू सब ही जीवमात्र मैं भगवान हीं कौं देखैं, काहू समय वैष्णव तिलोचनजू नांमदेवजू सौं कह्यो, जो हम पर ऐसी कृपा करो, जो भगवान् को दरसन होय, हम तैं तो यह वस्तु दूरि हैं, अरु तुम्हारी अनुग्रह तैं दूर नाहीं, तब नांमदेवजू नैं कहीं, हम तो नित्य सबनि मैं भगवान ही कौं देखत हैं, ऐसैं ही तुम देखो, यह कुत्ता ठाढौ हैं याहू मैं भगवान हैं, जो चित की सचाई तैं याहू मैं प्रभू दरसन दें, तब तिलोचन जू विवाद चरचा तो इनसौं कैसैं करैं, सुनि मुसक्याय चुप ह्वै रहे, तब नांमदेवजू फैंट मैं तैं तार निकास वा कुत्ता के बरनन को एक नयो पद बनाय गावत भये, सो कुत्ता तौं दृष्टि आयवे तैं रहि गयो, अरु वाकी ठौर भगवान को दरसन होत भयो, सो जा पद गायवे तैं भगवान दरसन दीनो, सो वह यह पद "ए प्रभु अंधारे घर के मदन राय। चाकी चाटै चंन खाय ॥ चूला मांझि प्रभु की सेज। छींकाकांनी अधिक तेज ॥

'रुगचुग' रुगचुग प्रभु की चाल पूंछ हलैं ज्यौं जौ की बाल ।। छांन छाय अब हौरयां आये । आगैं रोटी चुपरि जिमाये ।। काती मैंया प्रभु को भोग । गहि-गहि लकुटि धिंगवैं लोग ।। तीन ताप ये मैटैं रोग । नांमदेव स्वामी बएया संजोग ।।" (नागरसमुच्चयः, सिंगारसागर, पृ० १८८-१८६)

एक दूसरा पदप्रसंग लीजिए । यह शायद आपको अधिक रुचे । बात आपके कबीर की है । सुनिए—

"एक समय कबीरजू बन में बैठे हैं, तहाँ इन पैं एकांत स्थल में द्वै अप्सरा स्वर्ग तैं आईं, तब कबीरजू नैं बिचारी, इनसौं संभाषन करिनौं भलो नांहीं ज्यौं इनको ऐसो रूप देखिनौं भलो नांहीं त्यौं इनकी बोलनि हू सुननी भली नांही, यह विचार नयो पद बनाय गावत भये, वा पद ही मैं उनकौं उठ जावै को उतर दयो, अपसरा निरास ह्वै जात रही, वा समय गायो सो वह यह पद—

"तुम घर जावो मेरी बैनां इहां तुमारो लैनां न दैनां ।
राम बिना गोविंद बिना बिख लागैं ये नैनां ।।
जगमगात पट भूषन नगमय उर मोतिन के हार ।
इंद्रलोक तैं मोहन आई मोहि करन भरतार ।।
इन बातिनि कौं छाँड़ि देहुरी गोविंद को गुन गावो ।
तुलसीमाला क्यों नहिं पहिरो पारब्रह्मपद पावो ।।
इंद्रलोक मैं टोट भयो कहा हम सो और न कोई ।
तुम तौ हमैं डिगांवनि आई जाहु दई की खोई ।।
बहुतैं तपसी बांधि बिगोये कचैं सूत कैं धागैं ।
जे तुम जतन करो बहुतेरो जल मैं आग न लागैं ।।
हौं तो केवल हरि कैं सरनै तुम हो झूठी माया ।
गुर परताप साध की संगति सो मैं जु परम पद पाया ।।
नांव कबीर जात जुलाहा ग्रह बन रहौं उदासी ।
जो तुम मांन महत करि आंई तोई कमाई दूजी कमासी ।।"

अस्तु, हम देखते हैं कि नागरीदास की इस 'पदप्रसंगमाला' की महत्ता क्या भाषा क्या भाव दोनों ही दृष्टियों से प्रत्यक्ष है । खेद है कि इसके संवत् का ठीक-ठीक पता अभी नहीं चला । फिर भी इतना तो निर्विवाद ही है कि यह सं० १८२१ वि० से पहले की रचना है; क्योंकि यही नागरीदास का निधन-संवत् है ।

—:o:—

२३—बाबा हरीदास

बाबा औसानदास से मिल कर सबसे बड़ी प्रसन्नता इस बात की हुई कि आपके हृदय में विद्या और विनय के प्रति अनुराग है। अवध में रायबरेली प्रान्त में महाराजगंज नामक एक स्थान है। बाबा औसानदास उसी के पास बबुरिहा नामक ग्राम में रहते हैं। उनके पूज्य-पितामह बाबा हरीदास का निवास स्थान इसी ग्राम में था। संवत् १६७४ वि० में बाबा हरीदास का परलोकगमन हुआ। अब आपके उत्तराधिकारी और शिष्य बाबा औसानदास आपके प्रदर्शित मार्ग पर चल कर जनता का हित-साधन कर रहे हैं। बाबा औसानदास ने कृपा कर हमें बाबाहरीदास की हस्तलिखित पुस्तकों को देखने की अनुमति दे दी और बड़े स्नेह के साथ उनके सम्बन्ध की अनेक बातों का परिचय दिया।

बाबा हरीदास का अध्ययन भक्तों और साहित्यिकों के लिए कितने महत्व का है, इसको हम अभी नहीं कह सकते। परन्तु इतना निवेदन कर देना अनुचित नहीं समझते कि हम बाबाहरीदास को महात्मा गोस्वामी तुलसीदास का संक्षिप्त रूप समझते हैं। आप की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि आपने 'चित्र काव्य' में भी भक्ति का ही प्रतिपादन किया है और 'मसलविवेक' नामक पुस्तक में 'मसल' के आधार पर भक्ति का गुण गान किया है। 'सिंहावलोकन छन्द' में आपने जैसी और जितनी रचना की है, उतनी और वैसी, शायद किसी भी अन्य कवि ने नहीं की है। रामचरित-मानस पर आपने एक 'शीला' नामक वृत्ति लिखी है। इसके सम्बन्ध में आपका कथन है—

"महाराज स्वामी श्रीरामचरण औध माहिं
कीन्हें रामायण को तिलक सो अनूप है।
दूसर श्रीरामबदल तीसर पंजाबी कहि
चौथो हरिहर प्रसाद कीन्हेउ सो खूब है॥
पंडित श्रीराम के गुलाम नाम मिरजापुर
वरने बहु भाव अर्थ दरसन हरि रूप है।
काशी में बंदन शंकावलि सब रासिये
दास हरी शीला हरि-लीला सुख-भूप है॥"

'शीला' शब्द से ही स्पष्ट है कि टीकाकार कितना विनीत और पटु है। कथा वाचकों के लिये यह टीका बड़े काम की है। भक्त-गण तो इसकी प्रशंसा कर चुके हैं। भाषा-विज्ञानी भी इस पर अवश्य ध्यान देंगे। उनके

काम की उसमें पर्याप्त सामग्री है, कहने का तात्पर्य यह कि बाबा हरीदास का महत्व अनेक दृष्टियों से अक्षुण्ण है। राम-भक्त कवियों में आपको एक उचित स्थान दिया जा सकता है और 'रामाश्रयी सगुण-शाखा' के अध्ययन के लिये तो इनका अध्ययन अनिवार्य है। यदि बाबा औसानदास की कृपा बनी रही और हम बाबा हरीदास की रचनाओं को यथेष्ट मात्रा में प्राप्त कर सकें तो हम उसका उचित प्रकाशन करने का प्रयत्न करेंगे। अभी हम जनता के सामने उनके कतिपय पदों को रख देते हैं तब देखना चाहते हैं कि लोग उन्हें कितना पसन्द करते हैं।

गोस्वामी तुलसीदास के ढंग पर विनय के दो पद बने हैं उनके अवतरण की आवश्यकता नहीं। यहाँ हम बाबा हरीदास के एक ऐसे पद को अवतरित करते हैं जिसमें इला-पिंगला का उल्लेख है और जो इन्हें गोस्वामीजी से कुछ अलग कर देता है; पर कबीर का अनुयायी नहीं बनाता। यह पद मर्मज्ञों के बड़े काम का है—

"मन तुम नाम गहो यहि भाँती।
चातक-नेह मेह जिमि लाग्यो मीन जलहि दिनराती।
चढ़त रकार मकार उतारत रस रस मनहिं सुहाती॥
इला पिंगला सोधि ओधि करि सुषमनि घाट नहाती।
तीरथ व्रत तप दान मानमद अस्तुति निंद्रा घाती॥
रहै अडोल बोल लघु भोजन तन निबाह जेहि भाँती।
श्री हनुमान सुजान शरण गहि रहि हरि रस मतिमाती॥
दास हरी हरि नाम आस गहि तरे बहुत अघखाती।"

कबीर आदि संतों ने सदाचार पर चाहे जितना ध्यान दिया हो और मादक द्रव्यों का चाहे जितना निषेध किया हो, पर उनके पंथ में गाँजा का बोल बाला हो गया और सन्त-संघ में चिलम का परवाना-सा चलने लगा। बाबा हरीदास इसी को लक्ष्य कर कहते हैं :—

"सुमिरन सों माति रहो मनुवा।
बिनु गाँजा बिनु भाँग अफ़ीमै चढ़त अमल अँग-अँग तनुवा।
चंचल गति तजि अचल सुखी भए पाए अमोल नाम धनुवा॥
भरि भरि स्वास अमीरस पीवत सब तजि चातिक-प्रन ठनुवा।
दास हरी जे हरि-रस-माते ते जन धन्य धन्य जनुवा॥"

अब तनिक बाबा की के 'सलोने दशरथ लाल' की 'चाल' को तो देखिये :—

"हमारो मन हरि गो दसरथलाल ।
कोटि मदन छवि-सदन बदन-विधु तिलक मनोहर भाल ।
भरत लखन रिपुदवन पवन सुत सङ्ग सखा लए बाल ।।
सरजू-तट चउहट रसिकन-घट बिहरत निसिदिन आल ।
दास हरी तन मन धन वारौं राम छयल की चाल ।।"

ये तो हुए बाबाजी के विनय के पद । अब उनके 'सिंहावलोकन' की बानगी लीजिए और 'भक्ति-विलास' की महिमा देखिए :—

"हाल रे देखु सबै जग को मग जात चला नित है सब काल रे ।
काल के बाल जुवा अरु वृद्ध छाँड़त एक कबौं यह चाल रे ।।
चाल रे कीट मनोरथ देहन नेह किए हरि जो जिय पाल रे ।
पाल रे कौन बिसाल तनै सिर दास हरी क्यों न होइ बिहाल रे ।।"

कहा जाता है कि महाराज गंज का एक मुसलमान मनिहारा बाबाजी का शिष्य हो गया था और अपना नाम सुब्बादास रख लिया था । 'भक्ति-बिलास' में इस ढंग के अनेक पद हैं जिनमें मुसलमानों को उपदेश दिया गया है । मुसलमान भी बाबाजी को बड़ी श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे और उनके उपदेशों पर ध्यान देते थे । आपका उपदेश है :—

"साँचा मन अल्लाह सों करु आबादति रोज ।
घर ही में मक्का अहै रहै रैन-दिन खोज ।।
रहै रैन-दिन खोज मौज यहि काल गँवावै ।
रोजा केरे नमाज लाजतजि पियहि रिझावै ।।
सब घट बसै खोदाय, पाय पर परि हेमेसै ।
मेहर धरै दिल बीच मीच पर तजै कलेसै ।।
दासहरी परवर दिगार तेहि मिलै पास ही वैसे ।"

'मसल-विवेक' बाबाजी की एक अनूठी रचना है । यह अपूर्ण रह गई है । 'हरिऔध जीने जिस प्रकार मुहावरों पर रचना की है बाबाजी ने उसी प्रकार 'मसल' पर लिखने का कष्ट किया है ।

एक उदाहरण लीजिए :—

"नर देह सुपाय विषय-विष खाय गँवाय वृथा मन लाय बिकारै ।
बनिता सुत दाम गुलाम भयो सब दूषन भूषन साजि सिंगारै ।।
परमारथ स्वारथ के पति राम गहे नहिं नाम चहै दुख पारै ।
कह दास हरी बिगरी सगरी गुजरै वह सोन जो नाकहिं फारै ।।"

'प्रश्नोत्तरी' और 'चित्र काव्य' में भी बाबा हरीदास ने अपने भक्ति-

भाव को ही पुष्ट किया है। इस क्षेत्र में भी इनके सामने राम का मङ्गल रूप सदा बना रहा है। राम की उपासना उन्होंने इस रूप में भी की है। उनकी यह रचना देखिए :—

“काह बालको कहत ? काह मनु सृष्टि जहाने ?
काह खींच महि लिखत ? काह जग अंत प्रमाने ?
करे लंका को राव ? कौन नृप जोग सिखावत ?
काह छानि आधार ? कौन वर परम न भावत ?
दास हरी त्रय बरन जो आदि अंत के परिहरो।
हरिजन हिरदै विचारि करि मध्य बरन सब सुख भरो॥

कहने की आवश्यकता नहीं कि मध्यवर्गों को एकत्र करने से ‘जानकी रवन भजु’ का उपदेश मिलता है जो बाबाजी का इष्ट विषय है। बाबा हरीदास एक सच्चे साधु थे और सदा राम-भक्ति का उपदेश करते थे। महात्मा तुलसीदास के मार्ग पर चलकर इन्होंने सिद्ध कर दिया कि सच्चे साधु की दृष्टि सदा व्यापक होती है। वह किसी कठघरे की संकीर्ण भूमि में अपनी चमक-दमक नहीं दिखाती। क्या ही अच्छा होता, यदि हम आपके ग्रन्थों का अच्छी तरह अवगाहन कर पाते और आपके प्रदर्शित मार्ग पर चलकर संसार को मङ्गलमय बना देते ?

—:०:—

२४—हिन्दी के वादी

‘अद्वैत’ संतों का साध्य ही नहीं, पापियों की पगड़ी तथा वंचकों का बाना भी रहा है। न जाने कितने दिनों से लोग उसके नाम पर मनमाना काम करते आ रहे हैं। सच बात यह है कि जिसको अद्वैत का बोध हो गया, जिसके हृदय में अद्वैत भाव का निवास हो गया, वह न तो अपने आपको अद्वैती सिद्ध करने का प्रयत्न ही करेगा, न लोगों को उसके लिए बाध्य ही करेगा। यही नहीं, यदि उसकी प्रवृत्ति संन्यास की ओर मुड़ी तो वह और भी उदासीन हो जायगा। जब कभी समाज में उसका विचरण होगा, किसी न किसी व्यवस्था के साथ होगा। अव्यवस्थितों को अद्वैती नहीं कह सकते। यह ठीक है कि अद्वैती को किसी व्यवस्था की चिंता नहीं हो सकती; किन्तु यह उससे भी अधिक सत्य है कि उसके उठने-बैठने, चलने-फिरने, आने-जाने आदि सभी व्यापारों में एक व्यापक व्यवस्था का प्रत्यक्ष दर्शन होता है। अधिक क्या कहें, यही कारण है कि वेदांतसूत्रों को शारीरिक सूत्र भी कहते हैं। वेदांती

शरीर की उपेक्षा नहीं कर सकते। आज तक जितने वेदांती अथवा अद्वैती हुए हैं। उनमें एक भी ऐसा न मिलेगा जो पाप-पुण्य, कर्म-अकर्म को एक ही समझता हो। अद्वैती का अर्थ यह कभी नहीं होता कि उसको भले बुरे का ज्ञान भी नहीं रहता। यदि कोई व्यक्ति गाय को गदहा और गदहे को गाय कहे तो वह अद्वैती नहीं प्रमत्त है। उसमें आत्म-तत्त्व का विकास नहीं, विध्वंस है। जो लोग सदाचार और कदाचार को एक ही रूप देने का आग्रह करते हैं वे अद्वैती नहीं, बुद्धि-भ्रष्ट हैं।

उपर्युक्त कथन का कारण यह है कि आज-कल हिन्दी-साहित्य में एक विशेष छलछंद-धारा चल पड़ी है, जिसको कुछ लोग भ्रमवश अद्वैत का प्रसाद अथवा रहस्यवाद, छायावाद या प्रगतिवाद समझते हैं। 'समझते' तो इसलिए कह दिया गया है कि वस्तुतः ये लोग समझना नहीं समझाना चाहते हैं जो बिना समझ के भी खूब हो जाता है। इन लोगों में 'विश्व' मन्त्र के जप का इतना मान है कि हम उसी को छायावादियों का तारक मंत्र कह सकते हैं। इस मंत्र के आधार पर ये लोग वही कर दिखाना चाहते हैं। जो आज तक असम्भव समझा जाता था। इस साहस का स्वागत हिन्दी-साहित्य ने जी खोलकर किया। इन लोगों ने देखा कि अच्छा अवसर हाथ लगा है, चट 'हृदय' को तिलांजलि दे बुद्धि की ओर टूट पड़े। जब कभी इनको कुछ सुनाना होता है तब ये लोग कह बैठते हैं कि "यह बुद्धि का युग है। हम प्राचीनता के दास नहीं।" जब बुद्धि की कसौटी पर इनकी बातें कसी जाती हैं तब तिलमिला कर चिल्ला पड़ते हैं और गिड़गिड़ा कर कहने लगते हैं—"हृदय, उदारता, सहानुभूति"। यदि किसी ने कुछ सामना करने का साहस किया भी तो आँख मूँदकर अद्वैत, वेदांत आदि का नाम ले पाखंड की परेड आरंभ कर दी। हाँ, इस परेड में जो शब्द घसीटे जाते हैं वे चाहे किसी अर्थ के बोधक भले ही न हों, किन्तु उनसे कुछ लोगों का पद-विन्यास तो गजब का हो जाता है। यदि यह पद-विन्यास किसी शक्ति का संचालन न होता तो हम इसको सानंद देखते, किसी प्रचार क्षोभ को दबा आत्मदमन भी कर लेते। परंतु इसके लक्ष्य से तो प्रत्यक्ष वा परोक्षरूप में किसी संस्कृति एवं सत्य का विनाश होता जा रहा है। हमें इस विनाश के उपरांत जो अमृत दिया जायगा वह हमारे किस काम का होगा, उसे हम अभी से देख रहे हैं। पुराने ढंग के कवि 'वाह' 'वाह' से तुष्ट हो जाते थे; किंतु आज-कल के रँगे अद्वैती कवि संभवतः पैगंबर कहे जाने पर भी पीछा न छोड़ेंगे। उनको संतोष तो शायद तभी होगा जब उनको आप अपना सर्वस्व निछावर

कर उनकी छत्रछाया में गुरुजनों को कुछ बनाना सीख लें, और तितली के सुनहरे पंख लगाकर अनंत के पार जाने का दम भरें। उनके अद्वैतवाद का अंत निश्चय ही अहमेव है।

चित्त को चकित कर डालने की चेष्टा, इन पारपंथियों में यदि स्वतंत्र होती तो प्रसन्नता की बात थी। भावना के आधार पर यदि व्यग्रता या वेदना के विवरण के लिए ये परम्परा को कोसते, बुद्धि तथा विवेक के बल पर नवीन बातों का आदेश करते, शील तथा सदाचार के आधार पर सुधार का आन्दोलन खड़ा करते तो हमें हर्ष ही होता। प्रेम की मदिरा में मत्त हो, किसी के प्रेम में पड़कर, प्रेम के पावन प्रवाह में बैठ कर, यदि ये साहित्य की प्रेम-धारा बहाते और, परमात्मापरक विरह जगाते तो साहित्य का कल्याण ही होता। और इस प्रकार धीरे-धीरे जो अद्वैत-भाव उदय होता वह उनके अधिक काम का होता। परंतु खेद तो यह देखकर होता है कि इस प्रकार की बातों में इन अद्वैतियों की गति ही नहीं होती। ये लोग तो कविता करने के लिए प्रेम करते हैं, वाद करने के लिए कविता करते हैं, अद्वैती बनने के लिए वाद गढ़ते हैं, और मतलब गाँठने के लिए ही अद्वैती बनते हैं। परिणाम यह होता है कि प्रेम, काव्य तथा वाद के त्रिदोष-जनित सन्निपात में पड़कर अपने साथ ही साहित्य तथा जाति का विनाश करते हैं: जिन तत्त्वों के आधार पर हम जीवित रहते है उन्हीं का घपला कर अनिष्ट करते हैं। रहस्यवाद, छायावाद किंवा प्रगतिवाद कोई ऐसी वस्तु नहीं है कि उसमें सब कुछ घुसेड़ दिया जाय। प्रतीत तो यह होता है कि जो लोग किसी वाद को ध्यान में रखकर कविता का ताना तनते हैं वे सभ्य समाज में, साहित्य-मंडली में, कवि-गोष्ठी में या जहाँ कहीं भी या तो तने रह सकते हैं या ताना सह सकते हैं, उनके शिष्ट सभासद् कभी नहीं बन सकते। अस्तु जो लोग रातदिन अद्वैतवाद की रट लगाते रहते हैं उनको कुछ इस बात पर भी विचार कर लेना चाहिए कि वस्तुतः हृदय का वाद से कहाँ तक सम्बन्ध है। वाद बुद्धि-व्यायाम का प्रसव है, कुछ हृदय की भावुकता का फल नहीं। कोई परम भावुक कवि यह कहने के लिए मुक्त है कि उसको भावविशेष की प्रेरणा अथवा वस्तुविशेष का साक्षात्कार किसी विशेष रूप में हुआ है। हम उसको उसके विरूपण के लिए विवश नहीं कर सकते, हाँ, उसमें दोष भले ही निकाल सकते हैं। परन्तु जब कोई वादी किसी तथ्य अथवा प्रतिज्ञा को सम्मुख रखता है और किसी सिद्धान्तों के रूप में हमारे सामने आता है तबहम उससे भिड़ जाते हैं; और उसका लोहा तभी मान सकते हैं जब

वह उसको सर्वथा साधु सिद्ध कर दे। यही कारण है कि हम अद्वैतवादी कवियों के काव्य में भी अद्वैत की झलक भर चाहते हैं, उसका डट कर प्रतिपादन नहीं। यदि हमें कवि विशेष अपने काव्यों में अद्वैतवादी का निरूपण दिखाना इष्ट समझता है तो हम उसके काव्यों में उसी प्रकार अद्वैतवाद की छानबीन करने के लिए विवश हैं। फिर वह हृदय की आड़ में पैतरा नहीं बदल सकता। संसार में सब कुछ वही नहीं हो सकता। जिस उदारता की याचना वह और से करता है उसी के अनुरोध से उसको भी जी बटोरना होगा। संसार से उसको उसी क्षेत्र में फलने-फूलने की जगह मिलेगी जिसकी पात्रता उसमें है। उसकी साधुता, उसका ज्ञान, उसका दर्शन इसी में है कि वह उसी क्षेत्र को जगमग करे।

प्रस्तुत युग बुद्धि का नहीं, छल-छंद का युग है। जो कुछ बुद्धि उसमें गोचर होती है उसका कारण यह नहीं है कि आज-कल लोग बुद्धि से विशेष काम, सत्य के संशोधन में, ले रहे हैं। उसका स्पष्ट प्रयोग तो अन्यथा कथन, अन्यथा व्यवहार में, मुख्य भावों के छिपाने के लिए ही किया जाता है; अतः यह छल का युग है। यह छल इसलिए नहीं किया जाता है कि इससे संसार का हित होगा। अब हम संसार के लिए नहीं, संसार हमारे लिए है। पर संसार इतना सीधा नहीं है कि वह सीधे हमारी दाल गलने दे। हमें अपने छंद के लिए कुछ छल करना ही पड़ेगा। यही छल नवीन हिन्दी-साहित्य में स्पष्ट गोचर हो रहा है। जो लोग इसको बुद्धि का परिणाम समझते हैं उनको इस बात पर विचार करना चाहिए कि इस बुद्धि का स्रोत कहाँ है। बिहारी की नायिका पति के आगमन की आहट पाकर 'दुकूल पलटने लगी' थी। आज-कल के छायावादी नायक, यदि कहे जा सकते हैं, किसी के आगमन में भाषा उलट रहे हैं। बिहारी की ललनायें लाल की गुड़ी की छाया को पकड़ने के लिए अपने-अपने आँगन में बौरी हो कर दौड़ रही थीं, आज-कल के हिन्दी-साहित्य के लाल न जाने किसकी छाया के पीछे प्रेसों में दौड़ लगा रहे हैं। बिहारी को नख-शिख की परिक्रमा से शांति मिल जाती थी, आज-कल चुंबन और आलिंगन से भी पेट नहीं भरता। बिहारी की नायिका शोभा के भार से दबी जाती थी, चल नहीं पाती थी, नवीन कवियों की नायिका (एड़ी के उभार से) फर-फर आकाश में उड़ी जाती है, कहीं थाह नहीं पाती। बिहारी की नायिका पिय का ध्यान करती-करती पिय हो जाती थी, उसको अद्वैत का फल मिल जाता था, पर आज-कल की नवीन कवियों की चिर सुहागिनों को 'उस पार', 'क्षितिज के पार',

'अनंत के पार', 'शून्य गगन में' क्या हाथ लगता है, नहीं कहा जा सकता। सम्भवतः वे क्षितिज के छोर में 'कसक' और 'कुहक' के दोले में झूलती होंगी। कहने का तात्पर्य यह है कि मुँह बनाने, मन बढ़ाने, दिल लगाने आदि व्यापारों से अद्वैत का सम्बन्ध कुछ भी नहीं है। नहीं हम यह नहीं कहते कि फँसाने या फुसलाने की क्रिया में भी लोग अद्वैत की शरण नहीं लेते। नहीं हमारा कथन तो केवल यह है कि अद्वैत की कसौटी साम्यबुद्धि अथवा आत्मौपम्य ही है। यह ज्ञान, भक्ति या कर्म किसी भी प्रकार आ सकता है। इसके स्वागत के लिए हृदय की स्वच्छता अनिवार्य है। वाद-ग्रसित व्यक्ति को परमात्मा का साक्षात्कार कभी नहीं हो सकता। प्रतीची के इज्म (ism) को घसीट आप वादी बन सकते हैं, अद्वैती कदापि नहीं। अद्वैतियों के अस्फुट व्याख्यान अथवा गुह्य काव्य में यदि बच्चों की तोतली बोली का आनन्द मिले तो उसके अर्थ के फेर में हम क्यों पड़ें, वही हमारे लिए पर्याप्त है। खेद का विषय तो यह है कि हिन्दी-साहित्य में अनर्गल, अर्थहीन शब्द जाल वा अर्थ विपर्यय का स्वागत अद्वैत के नाम पर मुँह बाकर किया जा रहा है। जो शब्द अँगरेजी में पत्थर, भूमि, भुजा आदि के वाचक होते हैं वे हिन्दी में चोला बदल कर छायावाद बन जाते हैं। भला जिन लोगों के हृदय में भाव भी अपने नहीं उठ पाते और वादों से बरबस दबा दिये जाते हैं, वे भी यदि अद्वैती हैं, छायावादी हैं, प्रगतिवादी हैं तो ढोंगी और दम्भी कौन है? हाँ, हृदय की मर्म वेदना एवं सच्ची अनुभूति को लेकर जो लोग हिन्दी-साहित्य में अवतरित हो रहे हैं उनके स्वागत के लिए हम आँख बिछाने में भी सतर्क हैं: कारण, कोमल पदों में कहीं विकट बरौनी न गड़ जाय।

—:o:—

२५—रत्नाकर की आत्मशंसा

देश-काल की दृष्टि से देखा जाय तो स्पष्ट अवगत होगा कि प्रायः सभी देश और काल के कवियों ने कुछ न कुछ अपने विषय में कहा अवश्य है। हाँ, किसी ने गोस्वामी तुलसीदास की भाँति अपनी दीनता में ही अपनी कविता का प्रकाशन किया है तो किसी ने भवभूति की भाँति अपनी कविता की रसिकता का ढिंढोरा अपने आप ही पीटा है, पर कहा सभी लोगों ने अपनी रचना के विषय में कुछ न कुछ अवश्य है। आज-कल के कवियों में तो 'कवि' से कहते रहने की कुछ प्रथा-सी ही चल पड़ी

है और सभी अपने कवि से कुछ न कुछ कहते अवश्य हैं। परन्तु इन सभी कवियों में स्व० रत्नाकर जी की स्थिति निराली है। रत्नाकर जी ने अपने विषय में जहाँ कहीं जितना कुछ कहा है वह बहुत ही सोच-विचार और नाप जोख कर ही; कहीं भी 'भावावेश में आकर उन्होंने अपनी रचना को तिल से ताड़ अथवा पर्वत से राई बनाने का कष्ट नहीं किया है, प्रत्युत एक समीक्षक की भाँति उसे यथातथ्य रखने की चेष्टा की है और फलतः हमें कहने में सन्तोष होता है कि इस क्षेत्र में उन्हें सफलता भी पक्की मिली है। हम चाहें तो सरलता से उन्हीं के कथन के आधार पर उनकी श्रेणी बना सकते हैं और उनके वर्ग के कवियों में उनके स्थान को निर्धारित कर सकते हैं। सुनिये न रत्नाकर जी स्वयं कहते हैं—

'सुमिरत सारदा हुलसि हँसि हँस चढ़ी,
बिधि सौं कहति पुनि सोई धुनि ध्याऊँ मैं।
ताल-तुक-हीन अंग भंग छबि-छीन भई,
कविता बिचारी ताहि रुचि-रस प्याऊँ मैं।
नन्ददास - देव-घनआनँद - बिहारी - सम,
सुकवि बनावन की तुम्हें सुधि ल्याऊँ मैं।
सुनि रतनाकर की रचना रसीली रंच,
ढीली परी बीनहिं सुरीली करि ल्याऊँ मैं॥'

प्रकृत छन्द में एक ओर जहाँ 'ताल-तुक-हीन', 'अङ्ग-भङ्ग' और 'छबि छीन भई' 'कविता बिचारी' की दुर्गति का उल्लेख है वहीं 'नन्ददास-देव घनआनँद बिहारी-सम' का विधान भी। अतः हम निःसङ्कोच भाव से कह सकते हैं कि रत्नाकर जी की रचना में 'ताल' है, 'तुक' है, 'अङ्ग' है, 'छबि' है और है साथ ही 'नन्ददास', 'देव', 'घन आनन्द' और 'बिहारी' का रङ्ग भी। और है उनकी 'रसीली रचना' में 'रुचि-रस' भी अपनी 'बीन' को 'सुरीली' करने की सुधि आती है। कारण कि अब 'ताल-तुक' की 'रसीली रचना' 'बीन' पर ही खुल सकेगी, कुछ कोरे कण्ठ में नहीं। अब तो 'गीत' के साथ 'वाद्य' भी रहेगा, थपोड़ी वा ताली नहीं।

हाँ, तो ध्यान देने की बात है कि 'रत्नाकर' प्रकृत छन्द में नन्ददास, देव, घन आनन्द और बिहारी का नाम क्यों लेते हैं और अन्य कवियों को छोड़ क्यों जाते हैं। 'सूर' और 'तुलसी' को रत्नाकर किस दृष्टि से देखते और उनकी रचना को क्या समझते हैं सो तो इसी से प्रकट है कि—

'रावरे अनुग्रह-प्रताप को प्रकाश पाइ,
वालमीकि व्यास-जसचन्द उजराये हैं।
कहै रतनाकर त्यौं बानी महरानी मात,
कवि-मनि सूर तुलसी हूँ चमकाये हैं।
अविरल रावरे सुवा के मुख मंजुल तैं,
वेद भेद सकल अखेद जात गाये हैं।
जिनके उचारन के हेत करि चेत चारु,
चारि चतुरानन के आनन बनाये हैं॥'

अतः 'सूर' और 'तुलसी' की पंक्ति में बैठने का साहस रत्नाकर को हो नहीं सकता। रत्नाकर तो अपने को नन्ददास, देवादि कवियों के साथ ही समझते हैं पर कभी हुलास में कह जाते हैं—

'सुनि-सुनि भारती तिहारे सुगना के बोल,
किन्नरी कलोल लोल चित्त है लुभाये हैं।
कहै रतनाकर मृदुल माधुरी सौं मोहि,
वैसे ही कवित्त कहिबे कौं हुलसाये हैं॥
अब तौ हमारौ मन राखतै बनैगौ तोहिं,
भाषतै बनैगो बर जापै मचलाये हैं।
जौ पै हैं सपूत तौं तिहारेई बनाये मातु,
जौ पै हैं कपूत तौ तिहारेई लड़ाये हैं।'

माता 'भारती' की 'कृपा' से रत्नाकर ने जिस 'सुगना के बोल' को अपने 'शतक' में ढाला उसके विषय में क्या कहा जाय, परन्तु इतना अवश्य है कि स्वयं रत्नाकर जी अपने 'उद्धव-शतक' को माता शारदा का प्रसाद समझते हैं और उसे अपनी अन्य रचनाओं से कुछ अलग भी मानते हैं; परन्तु फिर भी अपने आपको कहीं सूर का समकक्ष नहीं समझते और कहते भी हैं तो यही कि—

'आवत निहारे हौं गुपाल एक, बाल जाकी,
लाग्यौ उपमा मैं कवि कोविद समाज है।
तरुन दिनेस दिव्य अरुन अमोल पाय,
छीन कटि केहरि औ गति गजराज है।
सम्भु कुच मुख पदमाकर दिमाक देव,
तापै घनआनँद घनेरौ कच-साज है।
छवि की तरंग रतनाकर है अंग सुस-,
कानि रस-खानि बानि आलम निवाज है।'

रत्नाकर ने कविता-कामिनी के इस रूप में 'सूर' और 'तुलसी' को ही नहीं अपितु 'नन्ददास' और 'बिहारी' को भी छोड़ दिया और यदि लिया भी तो 'सम' चतुष्टय में से 'देव' और 'घनआनँद' को जिनमें 'देव' तो 'दिमाक' और 'घनआनँद' 'घनेरौ कच-साज' कहे गये हैं। अतः कहा जा सकता है कि रत्नाकर 'देव' का 'दिमाक' और 'घनआनँद' का 'घनेरौ कच-साज' चाहते थे और इसीलिए सुकवि सम-चतुष्टय में उनकी भी गणना करते थे। परन्तु देखा तो यहाँ यह जाता है कि रत्नाकर जी स्वयं 'रतनाकर' को 'छवि' नहीं 'छवि की तरङ्ग' मानते हैं और 'रसखान' को 'मुसकान' कह जाते हैं। तो क्या रत्नाकर जी का यह पक्ष है कि कविता-कामिनी की 'छवि' वस्तुतः उन्हीं की रचना में उतरी है? जो हो, प्रस्तुत पद्य तो यही पुकार कर कहता है और प्रकारान्तर से यह भी सिद्ध करता है कि रत्नाकर क्यों अपने आपको 'देव' और 'घनआनन्द' की कोटि में रखना चाहते थे। सच है, 'देव' में 'दिमाक' और 'घनआनँद' में 'घनेरौ कचसाज' है। पर 'नन्ददास' और 'बिहारी' में जो है वह इस 'बाल' में कहाँ है? यहाँ तो न 'जड़िया' है और न 'नावकका तीर', न नन्ददास की कला है और न बिहारी का शृङ्गार। फिर रत्नाकर जी इस प्रसङ्ग में 'नन्ददास' और 'बिहारी' का नाम भी लेते तो कैसे? पर जहाँ उनको 'बाला' की नहीं, 'रसीली रचना' की चिन्ता हुई है वहाँ उनको 'जड़िया' नन्ददास और 'विविध सवादी' विहारी का भी उल्लेख करना ही पड़ा है। और जानकार जानते भी इसे खूब हैं कि वस्तुतः रत्नाकर में इन चारों कवियों का योग है। नन्ददास, देव, बिहारी और घनआनन्द अपनी जिन-जिन विशेषताओं के लिए ख्यात हैं उनका दर्शन पर्याप्त मात्रा में हमें रत्नाकर में एकत्र होता है। 'रतनाकर' की छाप यदि 'पदमाकर' की सुधि दिलाती है तो 'पदमाकर' हैं भी उक्त बाला के 'मुख'। बस इसी से जान लीजिये कि 'पद्माकर' के प्रति 'रतनाकर' की धारणा क्या है। 'मुख' के बिना 'छवि' कैसी?

रत्नाकर ने अपने जीवन में जो कुछ प्राप्त किया वह क्या था और किस द्वार से आया था इसे भी तनिक उन्हीं के मुँह से सुन लीजिये। कहते हैं—

'कहत सिहाइ केते प्रतिभा-प्रभाइ पेखि,
साँचौ यह सुघर सपूत सारदा कौ है।
केते कहैं मोहि जोहि जागत प्रताप ताकौ,
अरि-उर-साल यह लाल गिरिजा कौ है।

सब-सुख-साधन की सिद्धि मनमानी सदा,
केते लखि लेखत लड़ैतौ कमला कौ है।
एहो ब्रजराज इमि सकल समाज माहिं,
रङ्ग रतनाकर पै रावरी कृपा कौ है।'

बस, हम भी यही कहना चाहते हैं कि 'ब्रजराज' की 'कृपा' के प्रताप से ही 'रतनाकर' की रुचिर रचना में—

'बातनि की ललित लपेट कदली के फेंट,
अरथ कपूर भरपूर सरसत है।
कहै रतनाकर सुकोस लेखिनी कै सुचि,
आखर कौ रोचन रुचिर दरसत है।
रूरे रस-सिन्धु-अवगाही मति-सुक्ति माहिं,
उक्ति-जुक्ति-मुक्तिनि कौ पुंज परसत है।
सारद सुसीले मन्दहास स्वाति-बारिद तैं,
जब सुखकारि कृपा-बारि बरसत है।'

सच है बिना 'कृपा' के कोरी कल्पना से क्या हो सकता है! कहिये, है न रत्नाकर की 'आत्मशंसा' सर्वथा साधु?

—:o:—

२६—'कौन हो तुम वसंत के दूत?'

'प्रसाद' की प्रगल्भ और वक्र प्रतिभा ने जिस 'कामायनी' को जन्म दिया उसकी चाहे जितनी स्तुति की जाय पर अभी तक उसका बीज आँखों से ओझल ही रहा है और किसी भी सिद्ध हस्त आचार्य ने अभी तक उसका हृदय छूने का साहस नहीं किया है। जिन लोगों ने 'कामात्यनी' में प्रसाद जी को पकड़ा है उनकी भर्त्सना तो भरपूर की गई है पर कहीं उनकी आँच में धूम नहीं दिखाया गया है। हाँ, समय-समय पर उन पर आक्षेप अवश्य किये गये हैं। सम्भव है इसका मूल्य कारण 'कामायनी' की उपासना अथवा बुद्धिवाद का विरोध ही हों, पर हमें कहना तो यही है कि बुद्धि-फल को चख लेने के कारण बाबा आदम का पतन भले ही हुआ हो पर मानव तो सदा ही बुद्धि के सहारे आगे बढ़ता एवं विश्व में अपना प्रकाश फैलाता रहा है। रही 'श्रद्धा', सो उसके विषय में 'मनु' का प्रश्न है—

"कौन हो तुम वसंत के दूत,
विरस पतझड़ में अति सुकुमार।

घन तिमिर में चपला की रेख,
सपन में शीतल मन्द बयार।
नखत की आशा किरण समान,
हृदय के कोमल कवि को कांत-,
कल्पना की लघु लहरी ही दिव्य,
कर रही मानस हल चल शांत।"

'कौन हो तुम बसंत के दूत' से प्रगट होता है कि मनु किसी पुरुष से प्रश्न कर रहे हैं पर वस्तुतः बात कुछ और है। 'चपला की रेख', 'नखत की आशा किरण', 'कल्पन की लघु लहरी' तथा 'कर रही' से व्यक्त ही है कि यह सब किसी 'स्त्री' का गुणगान है कुछ किसी पुरुष का बखान नहीं। तो भी प्रसाद जी की प्रभुता को तो देखिए कि वह 'कामायनी' की दूती नहीं 'दूत' ही बनाते हैं और फिर आगे चल कर उसी क्रम में उसका परिचय देते हुए लिखते हैं—

"लगा कहने आगन्तुक व्यक्ति,
मिटाता उत्कण्ठा सविशेष।
दे रहा हो कोकिल सानंद,
सुमन को ज्यों मधुमय संदेश।"

प्रसाद जी की 'श्रद्धा' कालिदास की 'सुनन्दा' की भांति 'पुंवत्प्रगल्भा' भले ही हो पर है तो वह भी यथार्थतः।

"वह कामायनी जगत की, मंगल कामना अकेली।
थी ज्योतिष्मती प्रफुल्लित, मानस सर की बन बेली।
वह विश्व चेतना पुलकित, थी पूर्ण काम की प्रतिमा।
जैसे गंभीर महाह्रद, हो भरा विमल जल महिमा।"

(वही पृष्ठ २६८, आनंद)

सोचा था 'जगत की मंगल कामना' से न सही 'मानस तट की बन बेली' से तो स्थिति स्पष्ट हो जायगी। मुंह खोलने ही को था कि दृष्टि जैसे 'जैसे गंभीर महाह्रद' पर पड़ी और असमंजस ने आ दबाया। जब 'हो भरा विमल जल महिमा, की 'महिमा' से कुछ साहस और संकेत मिला तब अर्थ की उलझन सामने आ डटी और सीधी सी बात 'न्यून पदत्व' के कारण पहेली बन बैठी। किन्तु किसी प्रकार अपने जी को समझा लिया कि हो न हो प्रकृत पद्य में 'महाह्रद' तो काम का स्थाना पन्न है और 'महिमा' कामायनी की स्थानापन्ना। पर बात कुछ जमी

नहीं। निदान इसे यहीं किसी श्रद्धालु के लिये छोड़ 'श्रद्धा' की टोह में फिर पीछे लौट पड़ा तो देखा कि—

"छूते थे मनु और कंटकित,
होती थी वह बेली।
स्वस्थ व्यथा की लहरों सी,
जो अंगलता थी फ़ैली।"

(पृ० १३४, कर्म)

देखा तो प्रत्यक्ष दिखाई दिया कि यहां जो 'कर्म' दिखाई दे रहा है वह किसी अलौकिक प्रेरणा वा आकाश वाणी का रहस्य तो है नहीं जो समझ से आँखो दूर रहे। नहीं, यह तो प्रगट ही श्रद्धा के इस मधुर प्रस्ताव का मधुमय परिणाम है कि—

"बनो संसृति के मूल रहस्य,
तुम्हीं से फैलेगी वह बेल।
विश्वभर सौरभ से भर जाय,
सुमन के खेलो सुन्दर खेल।"

(पृ० ६५, श्रद्धा)

'सुमन के खेलो सुन्दर खेल' का भेद तो आगे चल कर खुल गया। कारण कि स्पष्ट विधान मिला—

"अपना मन है जिसको चाहा,
तब इसको दे दान दिया।"

(पृ० १३४ निर्वेद)

सो भी किस 'अदा' से, तनिक इसे भी देख लें। कहते हैं :—

"यह भी अपने बिजली के से,
विभ्रम से संकेत किया।"

(पृ० १३४ निर्वेद)

इस 'संकेत' और इस 'इसको' ने सारा रहस्य खोल दिया। सो किस प्रकार सो इसे भी सुन लें। पहले 'इसको' ही लीजिए। 'इसका' प्रयोग उक्त 'छन्द' में किसके लिये हुआ है? कह सकते हैं 'जिसको चाहा' के 'जिसके' के लिये। ठीक है, पर यहाँ 'उसको' का प्रयोग होता तो श्रद्धा की कौन सी छवि छूंछ पड़ जाती? अच्छा, यही सही। तो हमारा भी कहना है कि—

"बनो संसृति के मूल रहस्य, तुम्हीं से फैलेगी वह बेल।"

में 'वह' का संकेत 'यह' अर्थात् 'कामायनी' के लिये ही है। और यदि इसे ऐसा नहीं मानते हो तो कहो कि अकेले तुम्हीं (मनु) से वह बेल (संसृति) कैसे फैलेगी ?

अब रही संकेत की बात। सो सभी सहृदय जानते हैं कि काम-कला के उपासक 'दूत' वा 'दूती' के साथ किसी 'संकेत' स्थल पर कभी-कभी क्या करतब दिखाते हैं परन्तु विचारणीय विषय तो यह है कि क्या कामायनी सचमुच नायिका नहीं वा दूती नहीं, नहीं 'दूत' है, और यदि दूत है तो किसका। कहते हैं 'वसन्त के दूत' का अर्थ एक साथ लो। ठीक है। परन्तु वसन्त क्यों नहीं ? क्यों वसन्त के दूत ?

हाँ, सोचने समझने और बुद्धि दौड़ाने से सूझ पड़ा कि फारसी शाइरी में 'अमरद' माशूक़ होता है। और उसी की देखा देखी प्रसाद जी ने हिन्दी में भी इसका रंग उड़ाया है। परन्तु यहाँ भी कठिनाई यह आन पड़ी कि यह 'ग़ज़ल' वा गीत नहीं। 'मसनवी' वा महाकाव्य है फिर यह लिंग-विपर्यय कैसा ? जो हो, हमें कहना तो यही है कि यदि प्रसाद जी 'दूत' के फेर में न पड़ते और प्रकृत पद्य को यह रूप देते तो उनकी रचना दुरूह न होती और सामाजिकों के अनुकूल भी अधिक होती। हमारी समझ में इसका प्रकृत पाठ होना चाहिये।

"कौन हो तुम वसंत की वेलि,
विरस पतझड़ में अति सुकुमार !
घन तिमिर में चपला की रेखा
तपन में शीतल मन्द बयार।"

माना कि इससे प्रसाद जी की सारी गूढ़ता मारी जाती और उनका दूत वादी रहस्य वा छायावाद भी कहीं दूर ही कलपता और उनके पहुँचे हुए प्रशंसकों को यह कहने का भी पुण्य-लाभ नहीं होता कि नारी भी मूलतः नर है और 'हव्वा' भी तो वस्तुतः 'आदम' की 'पसली' व अंग ही है अतः उसे अमरद के रूप में अंकित करना 'इतिहास' है, रूपक है साधु हैं। तो हमारा कहना है कि इतना बड़ा पुण्यलाभ सरल और साधु जनता के किसी काम का नहीं। उसे तो कामायनी का वह प्रकृत रूप ही भायेगा जिसके सम्बन्ध में स्वयं मनु का कहना है—

"लतिका घूँघट से चितवन की,
वह कुसुम दुग्ध सी मधु-धारा,
प्लावित करती मन अजिर रही,
था तुच्छ विश्व वैभव सारा।" (पृष्ठ ७२ काम)

अस्तु, संक्षेप में यही कहना है कि यदि वास्तव में हमें 'प्रसाद' जी की 'कामायनी' को सामान्य मानव भाव-भूमि पर लाकर देखना है तो उसको उनकी छाया वा छन्दवादी रुचि से अलग करके देखना चाहिये और उसके व्यर्थ के बुद्धि-विरोध से बचकर श्रद्धा और बुद्धि को 'समरस' बनाना चाहिये, कुछ बुद्धि की 'हव्व' नहीं ॥

—× —× —×

—:०:—

२७—हिन्दोस्ताँ हमारा

'हिंदोस्ताँ हमारा' के लेखक सर मुहम्मद 'इकबाल' वंश के विचार से अरब, तुर्क या यवन नहीं थे। संभवतः उनके प्रपितामह ने किसी विशेष कारणवश हिंदू-मत को छोड़ कर इसलाम कबूल कर लिया था। उनके इसलाम में आ जाने से इसलाम को जो महत्त्व मिला उसका जीता जागता प्रमाण सर मुहम्मद 'इकबाल' की कविता तथा फिलासफी है। मुसलिम फिलासफी के एक मात्र पंडित तथा उर्दू कविता के इस सर्व शिरोमणि कवि के निधन पर आज भारत के दुःख का ठिकाना न होता यदि सचमुच 'इकबाल' अपने 'इकबाल' को बहाल रखते और अपने 'वतन' को ही अपना घर समझते। 'इकबाल' की फारसी कविता और 'इकबाल' के साम्प्रदायिक विचार आज उनके उस महत्त्व को बढ़ाने में सर्वथा असमर्थ हैं जिनके पात्र सचमुच वे थे। कश्मीरी पंडित-वंश के इस वीर कवि ने किस मृग-मरीचिका को अमृत-कुंड समझा और अपने आप को किस खोज में व्यर्थ ही गवाँ दिया! हम स्वीकार करते हैं कि उर्दू वालों की भाषा-संबंधी कड़ी पाबन्दी तथा व्यापक ख्याति के प्रलोभन के कारण उसे फारसी का पल्ला पकड़ना पड़ा और अन्त में धीरे-धीरे उसी का हो जाना पड़ा। पर हम इतना और भी निवेदन कर देना चाहते हैं कि उसने स्वतः अपने आदेश पर आचरण न कर जिस मार्ग को ग्रहण किया वह उसके लिए भी प्रशस्त न ठहरा। परिणाम यह हुआ कि वह आगे न बढ़ सका बल्कि बलक कर पीछे मुड़ गया। कारण, उसकी व्यक्तिगत कसौटी खरी न थी। और उसे अपने आप को समझने में धोखा हुआ। इस धोखा का प्रधान कारण था 'उखूत इसलाम' का फेर।

इसलाम 'हिंदोस्ताँ' को अपना मुल्म समझता है, ठीक उसी तरह जिस तरह इंग्लैंड आज हिंद को अपना देश समझ रहा है। अतएव

यदि किसी ने 'हिंदोस्ताँ हमारा' कह दिया तो वह उसके उच्चारण मात्र से देश-प्रेमी अथवा राष्ट्र-भक्त नहीं हो गया। इसके लिए उसे कुछ और भी करना पड़ेगा। वही करना पड़ेगा जो 'हिंदी' होते हुए भी सर मुहम्मद 'इकबाल' ने नहीं किया। यानी स्वराष्ट्र को परराष्ट्र से बढ़ कर मानना अथवा उसे सर्व श्रेष्ठ बनाने की चेष्टा करना; उसके कण-कण से प्रेम करना और उसे अपने जीवन के स्वर्ग का सोपान समझना।

डॉक्टर 'इकबाल' में जो परिवर्तन हुए उसका एक मात्र कारण इसलाम का केवल बाहरी दबाव अर्थात् मुसलिम एका ही न था बल्कि राष्ट्र-प्रेम का वह भ्रामक रूप भी था जिसे अस्पष्ट रखना ही आज भी समीचीन समझा जाता है। जिस समय डॉक्टर 'इकबाल' में राष्ट्र-प्रेम की उमंग उठती थी उसी समय उसे सीधी राष्ट्र-पटरी की जरूरत थी। यदि उस समय उन्हें राष्ट्र-पटरी मिल जाती तो उनकी विचार-धारा उसी पर चल कर आज कुछ और ही रंग लाती और हम बहुत कुछ एक नजर आते।

'हिंदोस्ताँ हमारा' में एक कसौटी कह दी गई है जो निहायत सच्ची, सीधी और आसान है। उसे समझ लेने पर फिर और कुछ समझने की जरूरत नहीं रह जाती। वह है—

"समझो वहीं हमें भी, दिल हो जहाँ हमारा।"

अब डॉक्टर 'इकबाल' की उक्त कसौटी को सामने रख कर 'हिंदोस्ताँ हमारा' के प्रथम चरण की व्याख्या कीजिए। उसमें कहा गया है—

'सारे जहाँ से अच्छा हिंदोस्ताँ हमारा।'

प्रत्यक्षतः इसमें हिन्दुस्तान की प्रशंसा दिखायी देती है; पर वस्तुतः यह कोई बड़ी बात नहीं कही गई है। सारा संसार हिंदुस्तान को इसी रूप में देखता है और मुसलिम साहित्य में तो उसे स्वर्ग तक कह दिया गया है। अमीर खुसरो तो इसके लिए एक अजीब किंतु अत्यन्त पुष्ट प्रमाण भी देते हैं। उनका दावा है कि यदि हिंदुस्तान स्वर्ग के तुल्य न होता तो बाबा आदम बिहिश्त से निकाले जाने पर हिंद ही में क्यों आते और क्यों बिहिश्त का पक्षी मोर यहीं पाया जाता ?

खैर जो हो, इतना तो निर्विवाद है कि डॉक्टर इकबाल का यह कथन अक्षरशः सत्य है। पर क्या स्वतः डॉक्टर इकबाल इसे सचमुच सत्य सिद्ध करते हैं ? निवेदन है हरगिज नहीं। सारे जहाँ से अच्छे समूचे हिंदोस्तान में उन्हें कोई चीज ऐसी दिखाई नहीं देती जिसे उपमा के लिए

चुनें। वे चट फारस पहुँच जाते हैं और वहाँ से गुल तथा बुलबुल को पकड़ लाते हैं। जरा देखिए तो सही किस शान से फरमाते हैं—

हम बुलबुलें हैं उसकी, वह गुलसिताँ हमारा।

फारस में गुल तथा बुलबुल में चाहे जो संबंध हो पर हिंद में तो उनका कोई संबंध नहीं। हाँ, हिंद की बुलबुलों की एक विशेषता अवश्य है। वह आपस में लड़ खूब लेती हैं। इस लड़ लेने के नाते हम बुलबुलें बनें तो ठीक अन्यथा प्रेम के विचार से यह अनुचित तथा निंदनीय है। डॉक्टर इकबाल इन बुलबुलों को पसंद इसीलिए करते हैं कि उनका दिल फारस में है और उनकी सची सहानुभूति भी फारस के ही साथ है। और यही वह बीच है जो काल पाकर सहसा फारसी कविता के रूप में फूट उठी और 'इकबाल' हिंदी न रह कर खासे 'फारसी' बन गये।

प्रसंगवश यहाँ हम इतना स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि हमें कुछ गुल तथा बुलबुल से द्वेष नहीं है। गुल 'गुलाब' के रूप में हमारे देश में आया और फिर इस तरह यहाँ का हो गया कि हमने गुलाब को गुल का पर्याय बना लिया और उसकी जगह गुलाब-जल को चालू कर दिया, गोया 'आब' की सत्ता ही मिट गयी। किंतु फारस की बुलबुल ने यहाँ आना पसन्द न किया। इस पुण्य यात्रा में उसने गुल का साथ नहीं दिया। फलतः गुल का सत्कार हुआ और उसे यहाँ मधुप का जोड़ा मिल गया। हिंद ने कमल के साथ गुलाब को भी अपना प्रतीक बना लिया और भ्रमर का उससे अटल प्रेम भी हो गया। उसे यहाँ सच्चा रसिक मिल गया जो जी-जान से उसमें रम गया। देखिए न, सहृदय बिहारी कौन सा दृश्य दिखाते हैं। बुलबुल में यह तल्लीनता कहाँ? वह तो समय आने पर सदा उड़ जाती है। परन्तु भ्रमर फिर भी मँडराता रहता है। लीजिए—

"येहि आसा अटक्यो रह्यो, अली गुलाब के मूल।
ऐहैं बहुरि बसंतरितु, इन डारन वै फूल॥"

सीधी-सी पर सच्ची बात तो यह है कि हम उसी को अपनाते हैं जो हमारे देश को अपना लेता है अथवा जो उचित स्थान पर होता है। क्योंकि हम देश-काल के सदा से कायल रहे हैं। यही कारण है कि हिंद के प्रसंग में हम गुल तथा बुलबुल का राग नहीं अलापते। हाँ, ईरान के प्रसंग में उसकी अपेक्षा भी नहीं करते। प्रमाण के लिए ठाकुर गुरु-

भक्तिसिंह 'भक्त' की 'नूरजहाँ' देखें। उसमें आपको ईरान की बहार दिखायी देगी। गुल और बुलबुल का प्रसंग भी। उसमें खूब मिलेगा।

'हिंदोस्ताँ हमारा' में डॉक्टर 'इकबाल' ने 'गंगा' को भी याद किया है। गंगा का जो महत्त्व देशवासियों में है उसके कहने की आवश्यकता नहीं। रहीम से पारखी मुसलमान भी उसके कायल थे। वे, 'हरिता' की कल्पना न कर 'हरिता' की याचना करते थे। किन्तु वह समय अब लद गया है। अब तो मौलाना हाली का तराना है—

"किए पै सपर जिसने सातों समुन्दर
वह डूबा दहाने में गंगा के आकर।"

डाक्टर 'इकबाल' गंगा को चेतावनी देते हैं और याद दिलाते हैं कि वह दिन याद करो जब तुम्हारे किनारे पर हमारा कारवाँ उतरा था और इधर-उधर अपनी शक्ति का परिचय दे रहा था :—

"ए आवे रुदे गंगा वह दिन है याद तुझको
उतरा तेरे किनारे जब कारवाँ हमारा ?"

विचार करने की बात है कि डॉक्टर इकबाल 'नस्ल' से हिन्दी होते हुए भी उस कारवाँ के साथ क्यों हैं जो कभी आकर गंगा के किनारे उतर पड़ा था। गंगा के प्रति उनकी वही भावना क्यों नहीं है जो किसी राष्ट्र-भक्त देश-प्रेमी में अपने देश की नदियों के प्रति होती है ? इतिहास भी तो डॉक्टर साहब का साथ नहीं दे सकता ! यदि कारवाँ को उतारना ही था तो सिन्धु के किनारे उतारते। बेचारी गंगा पर तो रहम करते ! पर नहीं। डाक्टर 'इकबाल' अच्छी तरह जानते हैं कि हिन्दू गंगा को किस दृष्टि से देखते हैं और किस तरह मौलाना हाली ने इसलाम के बेड़े को लाकर उसके दहाने में डुबो दिया है।

'हिन्दोस्ताँ हमारा' पर हम जितना ही गौर करते हैं उतनी ही हमारी हैरानी बढ़ती है और हमारी समझ में यह बात नहीं आती कि लोग इसे क्यों राष्ट्रगीत के नाम से पुकारते हैं और डॉक्टर इकबाल के उसी साम्प्रदायिक रूप को इसमें भी क्यों नहीं देख पाते जिसका निदर्शन उन्होंने अन्यत्र किया है। क्या इसीलिए कि इसमें कुछ मीठे शब्दों में कह दिया गया है—

'हिन्दी हैं हम, वतन है हिन्दोस्ताँ हमारा !'

इतना तो प्रसंगवश सभी कह जाते हैं पर आज समय पड़ने पर अपने हिन्दी होने का परिचय दे कितने रहे हैं ? आज 'पाकिस्तान' किस मुँह

से निकल रहा है? 'हिन्दी'? कदापि नहीं, उसके बीज-विधाता यही सर मुहम्मद 'इकबाल' तो हैं?

—:o:—

२८—भोजप्रबन्ध में काशी

भोजप्रबन्ध में 'काशी' का अनेक बार उल्लेख हुआ है, सच पूछिये तो कवि ने जितना काशी को महत्व दिया है उतना किसी को नहीं। शासकों में 'विक्रमार्क' और कवियों में 'कालिदास' को जो पद मिला है देशों वा नगरों में वही 'काशीदेश' वा 'काशी नगर' को। और तो और, वैद्यक शास्त्र पर आस्था दृढ़ करने के लिए अश्विनीकुमार जब व्यथित राजा भोज के पास स्वर्ग से आते और उन्हें रोगमुक्त करना चाहते हैं तब अपने आपको काशीवासी ही घोषित करते हैं। कहते हैं—

'ततः सुरेन्द्रादेशेन ता उभावपि धृतद्विजन्मवेषौ धारानगरं प्राप्य द्वारस्थं प्राहतुः द्वारस्थ आवां भिषजौ काशीदेशादागतौ श्री भोजाय विज्ञापय तेनानृतमित्यङ्गीकृतं वैद्यशास्त्रमिति श्रुत्वा तत्प्रतिष्ठापनाय तद्रोगनिवारणायचेति।'

किन्तु इसका अर्थ यह न समझ लेना चाहिये कि भोजप्रबन्ध में कहीं काशी की अवहेलना ही नहीं हुई है। हुई है, और गहरी अवहेलना हुई है 'लीलामानुष' कवि कालिदास के द्वारा। बात यह है 'श्रीशैल' से एक ब्रह्मचारी आ पड़ा और उसने राजा भोज से कहा कि हमें कोई इच्छा तो है नहीं, हम तो बस आपसे इतना ही चाहते हैं कि आप अपनी पण्डित मण्डली को हमारे साथ कर दें और हमारी 'काशी' की यात्रा सफल हो; मार्ग में गोष्ठी का पूरा आनन्द रहे। काशी का नाम सुनते ही सब पण्डित चल पड़े पर 'लीलामानुष' कालिदास न डिगे। राजा ने कारण पूछा तो आपने उत्तर दिया—

'ते यान्ति तीर्थेषु बुधा
ये शम्भोर्दूरवर्त्तिनः।
यस्य गौरीश्वरश्चित्ते
तीर्थं भोज! परं हि सः ॥२७२॥'

कालिदास ने अपने अतिज्ञान के कारण काशी की उपेक्षा की तो राजा भोज का मन उनकी इस अवज्ञा से खिन्न हो गया और अन्त में

उनके द्वारा अवमानित होकर कालिदास को 'बल्लाल' देश जाना पड़ा। बल्लाल देश की 'एकशिलानगरी' उन्हें इतनी प्रिय क्यों थी इसका कारण उनका विलास ही कहा जा सकता है। कारण कि उन्हीं का कहना है—

'अपाङ्गपातैरपदेशपूर्वैरेणी-
दृशामेकशिलानगर्याम्।
वीथीषु वीथीषु विनापराधं
पदे-पदे शृङ्खलिता युवानः' ॥२७५॥

भला जिस नगरी में बिना अपराध ही 'नागर-नरन-शिकार' हो रहा हैं उसे छोड़ कर 'विलासी' कालिदास काशी जैसी भूतनाथ की नगरी में क्यों आते? किन्तु काशी काशी ही है। उसकी समता अन्य कौन पुरी कर सकती है! तभी तो भोजप्रबन्ध का 'पवित्रमति' चोर 'शकुन्तक' कहता है—

'मरणं मङ्गलं यत्र
विभूतिश्च विभूषणम्।
कौपीनं यत्र कौशेयं
सा काशी केन मीयते' ॥१०६॥

राजा भोज के 'उभयोरपि पवित्रा मतिरिति' को देखकर वर्तमान प्रगतिवादियों से कहना पड़ता है कि कुछ अपने यहाँ के अतीत में भी झाँकना सीखो और देखो कि उभयचोर—मराल और शकुन्तक—किस प्रकार चोरी में भी पुण्य पाते हैं। स्मरण रहे मराल कहता है—

'सखे! काशीवासी कोई ब्राह्मणकुमार यहाँ आया, उसने मेरे पिता से काशीवास करने का फल वर्णन किया। उससे मेरा पिता बालकपन से चोरी करते रहने पर दैवयोग से अपने पाप से निवृत्त हो, वैराग्य उत्पन्न हो जाने के कारण सकुटुम्ब काशी को जायगा। उसी के लिए यह सकल धन है।'

'काशीवास' की इस महिमा को देखते हुए यह जान लेने में कोई अड़चन नहीं होती क्योंकि जो कोई भोज-सभा में आता और अपना रंग जमाना चाहता है तो काशी का ही नाम लेता है, तभी तो कोई 'मान्त्रिक' अपनी 'मन्त्र-विद्या' का परिचय देना चाहता है तो भूमिका में इतना अवश्य कह जाता है—

'राजन्! काशीदेशमारभ्य तीर्थयात्रया परिभ्राम्यते दक्षिणदेशवासिना मया।' और 'लीलामानुष' कालिदास भी तो समस्यापूर्ति से भागते हुए

कवियों की लाज रखने के लिये जब चारण-वेष धारण कर चारण-भाषा में अपना परिचय देते हैं तब यही कहते हैं कि 'अस्माभिः काशीदेशादागम्यते भोजदर्शनाय वित्तस्पृहया।'

काशी का गुणगान कहाँ तक करियेगा? भोजप्रबन्ध का रचयिता अहम्मानी, सम्भावित भवभूति को भी तो यहीं का बनाकर भोजके सामने खड़ा करता है। सुनिये सिंहासनासीन राजा भोज से द्वारपाल आकर कहता है।

'देव ! वाराणसीदेशादागतः कोपि भवभूतिर्नाम कविर्द्वारि तिष्ठतीति।'

'काशी' को 'वाराणसी देश' में परिणत देखकर कुछ आश्चर्य होता हो तो इसे केवल 'वाराणसी' ही समझ लें और 'बनारस' की उलझन कुछ पुरानी है। काशी 'जनपद' से 'नगर' और बनारस 'नगर' से जनपद कैसे हो गया, इसका विचार फिर कभी किया जायगा, अभी इतना ही देख लें कि यह गड़बड़ी भोजप्रबन्ध में भी है।

काशी की एक और भी बड़ी विशेषता है। देखिये 'काशीदेशवासी कोपि तण्डुल-देवनामा' कवि राजा भोज से अपने 'निवास' का पता उनके पूछने पर, इस प्रकार बताता है—

'वर्त्तते यत्र सा वाणी कृपाणी रिक्तशाखिनः।
श्रीमन्मालवभूपाल ! तत्र देशे वसाम्यहम्।'

काशीवासियों को यह पता कितना प्रिय होगा, इसका अनुमान कुछ इसी से लगाया जा सकता है कि 'तण्डुलदेवनामा' की भाँति कितने ही 'वेढब' देवनामा, 'बेधड़क' देवनामा और 'चोंच' देवनामा कवि आज भी उसी काशी में निवास करते हैं, और 'वाणी कृपाणी' की तो न पूछिए! उसी से तो त्रस्त होकर 'मिश्रबन्धुओं' ने एक अलग 'बनारस स्कूल' ही बना दिया है? जो हो, 'रावराजा' नहीं, राजा भोज ने इस खरे 'तण्डुलदेव' को भी 'गजेन्द्रसप्तकं ददौ।' यदि मीठे और सरस होते तो न जाने और क्या पा जाते।

सौभाग्य से 'उत्तरदेश' से कोई मृदुभाषी भी राजा भोज के पास पहुँच गया। राजा ने प्रश्न किया 'विद्वन्! कुत्र ते स्थितिरिति'। विद्वान् ने उत्तर दिया—

'यत्राम्बु निन्दत्यमृत
मन्त्यजाश्च सुरेश्वराः।

चिन्तामणिश्च पाषाणास्तत्र
नो वसतिः प्रभो' ॥२६९॥

फिर क्या था, 'राजा लक्षं दत्त्वा प्राह—काशीदेशे' का विशेष वार्तेति ?' उत्तर मिला 'देवा दुःखेन दीना -इति'। कारण पूछने पर चाटुकारी का उत्तर मिला, क्या कुतूहल में कहा गया—

'निवासः क्वाद्य नो दत्तो
भोजने कनकाचलः।
इति व्यग्रधियो देवा
भोज ! वार्तेति नूतना' ॥२७०॥

इस 'कुतूहलोक्ति' से 'तुष्ट' होकर राजा ने फिर लाख दिया और इस प्रकार पण्डित जी ने अपनी कुतूहली कला से दो लाख कमा लिये। तो अब काशी देशवासियों का कर्तव्य है कि वे अपने इस अतीत पर ध्यान दें और विचार करें कि वस्तुतः उनकी काशी कहाँ है— 'कुतूहलोक्ति' में, 'वाणी कृपाणी' में किंवा 'काशीवास' में ? आशा है, भोजप्रबन्ध के परिशीलन से उनकी आँख फिर खुलेगी और 'काशी' फिर 'काशी' होकर ही रहेगी। क्या काशी विश्वविद्यालय भी किसी कान से कुछ सुनता है अथवा 'राजा भोज का सपना' ही हो रहा है ? काशी नागरी-प्रचारिणी सभा को भी तो काशी का गर्व है।

—:०:—

२९—शक्ति तथा ज्ञान काव्य

यदि काव्य मानव-जीवन की अभिव्यक्ति है तो हम उसको सुगमता से दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। मानव-जीवन अथवा व्यक्ति विशेष के विकास में प्रायः यह देखा जाता है कि किसी समय उसका व्यापार विशेष गत्यात्मक होता है और किसी समय कुछ निष्क्रिय सा पड़ जाता है। पर विचार करने पर यह स्पष्ट अवगत हो जाता है कि निष्क्रियमाण अवस्था भी क्रिया से शून्य नहीं होती। वास्तविक बात तो यह है कि वही अवस्था प्रथम दशामें गति शील होकर मानव-व्यापार को भव्य रूप प्रदान करती है। यदि हम अपने कथन के स्पष्टीकरण में अन्तःकरण की सहायता लें तो यह विषय प्रत्यक्ष गोचर हो जाता है कि मन एवं चित्त के संचालन से शक्ति का संग्रह होता है और बुद्धि एवं—अहंकार के परिपाक से ज्ञान का विस्तार केन्द्रित होता जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह तो स्पष्ट ही है कि काव्य का प्रसार शक्ति तथा ज्ञान पर निर्भर है। अतः काव्य को शक्ति तथा ज्ञान की दृष्टि से दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। विभक्त करने के पहले ही हमको यह जान लेना परमावश्यक है कि शक्ति और ज्ञान दो स्वतंत्र तत्त्व नहीं हैं प्रत्युत एक ही तत्त्व के दो भिन्न रूप हैं। अतएव जब हम काव्य को शक्ति और ज्ञान की दो अलग अलग कोटियोंमें विभक्त करते हैं तब कुछ अनुचित कर जाते हैं। सच बात तो यह है कि शक्ति एवं ज्ञान परस्पर मिले जुले हैं, सापेक्ष हैं। अस्तु, उनके विश्लेषण में हम किसी अंश को प्रधानता ही देते हैं, जो दृष्टि भेद के कारण परिवर्तन शील भी है।

मानव-व्यापार के मूल में दो वृत्तियाँ काम करती हैं। एक का संबंध ज्ञान से होता है और द्वितीय का अज्ञान से। यदि हम प्रथम को लालसा या भोग-वृत्ति मान लें तो द्वितीय को जिज्ञासा या बोध वृत्ति मानना पड़ता है। प्रथम की प्रेरणा से यदि प्रस्तुत-विषय में निमग्न होते हैं तो द्वितीय के आग्रह से अन्यस्तुत के अन्वेषण में दत्तचित्त होते हैं। यही सूक्ष्म विभेद विकसित होकर काव्य सच्चा दर्शन का रूप धारण करता है। दर्शन से हमारा तात्पर्य केवल आध्यात्मिक दर्शन से ही नहीं है प्रत्युत भौतिक दर्शन से भी है। इस परिस्थिति में आ पड़ने के कारण काव्य का अर्थ भी संकुचित हो जाता है। यही कारण है कि आर्य संस्कृति का सर्वस्व वेद, काव्य और दर्शन के अन्तर्गत नहीं गिना जाता है यद्यपि उसमें काव्य एवं दर्शन दोनों ही के सूक्ष्म दर्शन हो जाते हैं।

अब हम विवेचन के उस क्षेत्र में पहुँच गये हैं जिसमें ज्ञान परिमार्जित होकर विज्ञान का रूप धारण कर लेता है। प्रकृत विषय का संबंध इस विज्ञान से कुछ भी नहीं है। अतएव हम यहाँ पर केवल काव्य गत विज्ञान या सामान्य ज्ञान पर ही विचार करना उचित समझते हैं।

काव्य का नाम लेते ही हमें हृदय का स्मरण हो आता है। हृदय का संगीतमय चित्र ही काव्य है। काव्य सहृदय प्राणी को ही चाहता है। ये ही भावुक प्राणी जब ज्ञानमय हो कर अपनी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति प्रत्यक्ष देखते हैं तब हमको काव्य में विवश होकर ज्ञान को स्थान देना ही पड़ता है। यही कारण है कतिपय ज्योतिष-वैद्यक आदि के ग्रंथों को भी काव्य के अन्तर्गत मान लेना असंगत नहीं जान पड़ता है।

अब तो यह मान लेने में कुछ भी अड़चन नहीं जान पड़ती कि किसी भी व्यक्ति, जाति अथवा देश की प्रगति में काव्य का पूरा पूरा हाथ रहता है। वास्तविक स्थिति तो यह है कि हम अपने अतीत का शुभ

दर्शन काव्य ही में करते हैं—कोरे इतिहास में तो उसका विवरण मात्र रहता है—और उसी से अपने भविष्य की मंगल कामना भी रखते हैं। इस मंगल-कामना के मूल में भी हमारी काव्यगत शक्ति ही है जिसका संचालन हम अपने काव्यगत ज्ञान से करना चाहते हैं। यह तो स्पष्ट ही है कि यह ज्ञान निरे वेदान्तियों या निपट विज्ञानियों के ज्ञान से भिन्न ही है, क्यों कि इसमें हमारे हृदयगत भाव भी मिले हैं।

प्रायः लोग कहा करते हैं कि शक्ति तथा ज्ञान की दृष्टि से काव्य का विकास नहीं हो सकता यदि होता है तो साहित्य का वस्तुतः हमारे और उन लोगों के विचारों में कुछ विशेष अंतर नहीं है। हम भी यह मानते हैं कि ज्ञान का समुचित विकास काव्य के अन्तर्गत नहीं आ सकता पर हम यह नहीं कहते कि काव्य में ज्ञान का अस्तित्व ही नहीं होता। यदि काव्य से तात्पर्य शुद्ध काव्य का नहीं है, कबीर आदि कवि माने जाते हैं तो काव्य के अन्तर्गत ज्ञान अवश्य ही खप जाता है। निःसंदेह शक्ति ही काव्य का जीवन है परन्तु ज्ञान के बिना वह असहाय और निर्बल है। व्यतिक्रम से बचने और भावों को सुचारु रूप से संचालित करने में ज्ञान ही समर्थ होता है। अतः काव्य में ज्ञान का भी स्थान है। वह भी काव्य का एक अंग् है।

हाँ, काव्य में ज्ञान के घुस पड़ने से काव्य के सौंदर्य के विकास में अवश्य ही बाधा पड़ती है पर उसके आ जाने से काव्य की शोभा और भी बढ़ जाती है। वही क्यों? जो लोग काव्य का उद्देश्य काव्य ही को नहीं मानते, जिन लोगों की दृष्टि में काव्य साध्य नहीं साधन है, जो लोग काव्य का आधार लेकर जीवन को सुखमय तथा मंगल बनाना चाहते हैं उन लोगों की दृष्टि में ज्ञान का स्थान शक्ति से कुछ कम नहीं है।

सच बात तो यह है कि जब मनोवेग अथवा चित्तवृत्तियाँ ज्ञान के पुटपाक में पड़कर सिद्ध हो जाती हैं तभी उनकी अभिव्यक्ति में वह राम रसायन प्राप्त होता है जिसके सेवन से हम अभीष्ट-प्राप्त करने में समर्थ होते हैं। यही कारण है कि सुधारप्रिय कवियों को विवश होकर उपदेशक या प्रचारक बनना पड़ता है। हमारे कथन का यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि किसी देश, राष्ट्र अथवा जाति के विकास एवं अभ्युत्थान में शक्ति का स्थान ज्ञान से घट कर है। हम तो यह जानते हैं और इस बात में भली भाँति परिचित भी हैं कि बड़े बड़े ज्ञानी प्रवर्त्तक भी अपने विचारों के प्रचार तथा प्रसार के लिए शक्ति-काव्य की शरण लेते हैं।

वास्तविक बात तो यह है कि काव्य-गत ज्ञान से उन दुर्गुणों एवं दोषों का निवारण होता है, उन मत-मतान्तरों का खंडन किया जाता है, उन अंगों पर प्रकाश डाला जाता है जिनके कारण हमें अपने अभ्युदय के मार्ग में धोखा होता है, बाधा पड़ती है और दुर्गमता का भान होता है। और काव्य गत शक्ति से अपने उस उज्ज्वल तथा भव्य भविष्य का मनोरम चित्रण किया जाता है जिसका प्रत्येक चित्र हमको अपने मार्ग में अग्रसर होने को ललकारता है। यही ललकार देश, जाति, समाज क्या, किसी भी उन्नति की जननी होती है। 'भूषण' के काव्य से परिचित बुद्धि हमारे इस कथन के अर्थ को भली भाँति समझती है।

कबीर, नानक आदि सन्त कवियों को हिन्दी के धुरन्धर विद्वानों ने हिन्दी धारा की ज्ञानाश्रयी शाखा में स्थान दिया है। कतिपय विद्वानों को तो कबीर के कवि होने में भी सन्देह है। हम यहाँ पर यह स्पष्ट कह देना चाहते हैं कि जिस काव्य का हम विवेचन कर रहे हैं उसका क्षेत्र इतना संकीर्ण नहीं है कि उसमें कबीर भी न आ सकें। हमारी समझ में तो रहस्यवाद, आधुनिक कुछ छायावाद, काव्यगत ज्ञान ही है।

लगे हाथों उस भ्रामक विचार पर भी कुछ विचार कर लेना चाहिये जिसका दर्शन कभी कभी साहित्य-समीक्षा में हो जाता है। प्रायः लोग कह बैठते हैं कि विज्ञान एवं सभ्यता के साथ साथ काव्य नहीं पनप सकता, कविता तो टिक भी नहीं सकती। यह कथन उन्हीं लोगों में मान्य होता है और वस्तुतः उन्हीं लोगों के मस्तिष्क की उपज भी है जिन लोगों के विचार में अतिशयोक्ति ही कविता या काव्य की आत्मा है। 'जो पै वा वियोगिनी की आह बढ़ जायेगी' की आह में शक्ति तो प्रलय की है पर वह काव्यगत शक्ति का आधार नहीं है। अस्तु, विज्ञान या सभ्यता के विकास में वही काव्य विकसित होता है जिसका आधार सहज होता है। विज्ञान की कृपा से कविता के स्थूल रूप सूक्ष्म होकर और भी अधिक सफल होते हैं। काव्य में ज्ञान का अधिक आदर होता है। अतः मानव-जीवन के विकास और किसी भी जाति एवं देश के अभ्युत्थान में काव्यगत शक्ति तथा ज्ञान दोनों ही सहायक हैं। हाँ, यह अवश्य ही है कि ज्ञान शक्ति की अपेक्षा अधिक परिवर्तन शील है। काव्यगत शक्ति तो एक प्रकार से नित्य है, क्यों कि उसका आधार मानव हृदय है मस्तिष्क नहीं।

—:o:—

३०—विरोध का कारण क्या ?

आजकल हिन्दी के विरोध में जो रन रोपा जा रहा है उसमें योग देने के पहले कुछ हमारी भी सुन लेते तो अच्छा होता। हम अपनी नहीं, आप ही की कह रहे हैं और आप ही के मुँह से। सुनिये आप ही तो कह रहे हैं :—

"अमीर खुसरो के बाद शेर शाही अहद में मलिक मोहम्मद जायसी पैदा हुए। वह भाषा ज़बान के ऐसे बड़े ज़बरदस्त शाइर थे कि खुद हिन्दुओं में आज तक कोई उनका हमसर नहीं पैदा हुआ। पदमावत उनकी मसनवी आज मौजूद है, और घर-घर फैली हुई है। हिन्दुओं में सबसे बड़ा शाइर आखिर ज़माना का कालिदास गुज़रा है जिसने रामायण भाषा में तर्जुमा किया है। नुक्ताशनासों का बयान है कि क़ुदरते ज़बान के लेहाज़ से पदमावत किसी तरह रामायण से कम नहीं। और इस क़दर तो हर शख्स देख सकता है कि पदमावत के सफ़हा के सफ़हा पढ़ते चले जाओ, अरबी, फ़ारसी के अल्फ़ाज़ मुतलक़ नहीं आते। और यों साज़ व नादिर तो रामायण भी ऐसे अल्फ़ाज़ से खाली नहीं। मुलाहिज़ा हो।

रामायण के बाज़ अशआर—

राम अनेक गरीब नेवाजे,
लोग बर-बर बरद बिराजे।
गनी, गरीब, ग्राम, नरन गर;
पण्डित मोटे मिले उजागर॥"

(मोक़ालात शिबली, दूसरी जिल्द,
पृ० ८१)

अल्लामा शिबली नोमानी किस कोटि के जीव थे, इसे आप खूब जानते हैं और आपसे कदाचित यह कहने की भी आवश्यकता नहीं रही कि आप अरबी, फारसी के कितने बड़े पंडित थे और इसलामी साहित्य में आपकी कितनी रुचि थी। साथ ही आप यह भी देख ही रहे हैं कि 'भाषा' में आपका कितना दखल है। फिर भी आज आप जो कहीं नहीं देख रहे हैं वह है 'घर-घर फैली हुई' उसी 'पदमावत' का उर्दू की किसी भी कक्षा में पाठ्य होना। उर्दू, मुल्क की बोली कही जाती है पर उसमें 'घर-घर फैली हुई' पदमावत को कहीं जगह नहीं। क्यों ? रही हिन्दी की बात। सो उसके विषय में इतना ही कहना है कि हिन्दी के किसी भी

पाठ्यक्रम में कहीं न कहीं पदमावत है किसी न किसी अंश को अवश्य देख लीजिये। कारण हम नहीं बताते, पर हम तो उसे आपके मुँह से सुनना अवश्य चाहते हैं।

'पदमावत' को विश्व के कितने लोग जानते हैं इसे हम नहीं जानते और न हम यही जानते कि इस 'चितउर भा इसलाम' की पोथी की रक्षा के लिये आज इसलाम क्या कर रहा है। हाँ, हमें इतना पता अवश्य है कि आज उर्दू की ओर से इतना अवश्य कहा जा रहा है कि उर्दू ही सब की भाषा है और हिन्दी 'भाषा' किसी की नहीं। इसी से तो आज कहा यह जा रहा क्या, लिखा यह जा रहा है कि—

"उर्दू की एक अहम खिदमत अल्लामा शिबली के हाथ से यह सर अंजाम हुई कि सन १६१२ ई० में गवर्नमेंट ने इलाहाबाद में एक वर्नाक्यूलर स्कीम कमेटी इस ग़रज़ से क़ायम की कि स्कूलों और कालेजों के लिये 'देशी ज़बान' का निसाबे तालीम ऐसी ज़बान में मुरत्तब किया जाय कि एक ही इबारत के साथ 'उर्दू', 'हिन्दी' दोनों ज़बानों में पढ़ाया जा सके। और इसके अलावा उर्दू पढ़ने वालों के लिये हिन्दी पढ़ना भी लाज़िम क़रार दिया जाये और रामायण तुलसीदास को निसाब इम्तेहान में शामिल कर दिया जाये।

इस कमेटी के मेम्बर अल्लामा शिबली भी थे। उन्होंने अपने बेनज़ीर दलायल से यह तमाम तजवीज़ें मुसतरद करा दीं। कमेटी के बाद मौलवी हबीबुर्रहमान खाँ साह शेखानी को यह खत लिखा था—

मुकरमी-तसलीम-मैं उर्दू वर्नाक्यूलर स्कीम कमेटी की शिरकत की ग़रज़ से इलाहाबाद गया था। मि० बर्न ने चन्द निहायत मुज़िर तजवीज़ें उर्दू के हक़में पेश की थी। एक यह भी थी कि रामायण भाषा इंटरेंस के इम्तेहान में लाज़िमी कर दी जाय। और उर्दू जो मदारिस में है वह ऐसी कर दी जाय कि 'हिन्दी' बन जाय। अजीब मन्त की दलायल घड़े थे। पंडित सुन्दरलाल वग़ैरह कमेटी के मेम्बर थे। तीसरे जलसे में कामिल फ़तेह हुई। तमाम तजवीज़ें उड़ गयीं। अगरचे अफ़सोस है कि मुसलमान मेम्बरों ने कोई मदद मुझ को न दी। और देते क्या? देने के क़ाबिल भी न थे। शिबली।'

उर्दू ज़बान व अदब के जिस बक़ा व तहफ़्फ़ुज़ की आज कोशिश हो रही है उसका रास्ता अल्लामा शिबली ने पहले ही खोल दिया था,

वरना यह दरवाज़ा ३० साल पहले ही बन्द हो चुका होता।" (दास्ताने तारीखे उर्दू, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा, सन् १६४१

(पृ०, ६७६)

उर्दू के आनन्द के लिये अल्लामा शिब्ली ने जो कुछ किया उसे आपने प्रोफेसर हामिद हसन कादिरी के मुँह से सुन लिया और देख लिया अपनी आँखों से उसे कागद पर छपा भी। परन्तु हमारे अल्लामा भी भूल गये कि मलिक मोहम्मद जायसी क्या है और उसकी 'पदमावत' किस भाषा की रचना है और हमारे प्रोफेसर साहब को तो इसकी भी सुधि न रही कि इसी देश में कोई अब्दुल रहीम खान खाना भी हो गया है जो फारसी, अरबी और तुर्की का ही विद्वान् नहीं संस्कृत और 'भाषा' का भी पंडित था, और हिन्दी में लिखता भी खूब था। प्रोफेसर साहब ने 'रहिमन सीधी चाल सों' को 'तुलसी सीधी चालसे' लिखकर अपनी जिस जानकारी का परिचय दिया है वह देखने ही के योग्य है। अल्लामा शिबली ने जो 'कामिल फ़तेह' हासिल की तो उर्दू जी गयी, परन्तु हुआ क्या? यही न कि अल्लामा शिब्ली भूल गये कि 'रामायण' की रचना भाषा में गोस्वामी तुलसीदास ने की है कुछ संस्कृत के स्वनामधन्य कवि कालिदास ने नहीं। अब आप ही कहें कि जिस देश के अल्लामा को 'कालिदास' का पता नहीं, जिस देश के अल्लामा को 'तुलसी' का बोध नहीं, और जिस देश के प्रोफेसर को 'रहीम' की सुधि नहीं, वह देश मूर्खों का अखाड़ा नहीं तो और क्या होगा! सभ्य और शिष्ट संसार का नियम यह है कि अवतरण यथा शक्ति शुद्ध दिया जाता है, परन्तु हमारे देश के प्रोफेसर इसके भी अपवाद हैं, उन्हें 'तुलसी' और 'रहीम' जैसे सर्वप्रिय कवियों का ज्ञान नहीं। कारण की उपेक्षा न करें और ध्यान से देखें कि क्या तुलसी और क्या रहीम का अध्ययन देश के उद्धार, लोक के कल्याण और इसलाम के अभिमान का बाधक होगा? महत्मा गाँधी भी आज 'भारत' को 'हिन्दुस्तान' से अलग समझते हैं और डाक्टर जाकिर हुसैन भी। परन्तु क्या कोई महानुभाव यह भी बताने का कष्ट कर सकते हैं कि महात्मा तुलसीदास और खान खाना अब्दुल रहीम किस युग के जीव हैं! क्या महात्मा गाँधी के 'हिन्दुस्तान' में उनकी गणना नहीं होती? यदि हाँ, तो क्या कोई भी अल्लामा यह स्पष्ट करने का साहस करेगा कि उर्दू मोहम्मद शाह 'रंगीला' से आगे क्यों नहीं बढ़ती और यह भी बताने का कष्ट करेगा कि हम उसके पहले के हिन्दी अध्ययन के लिये किस उर्दू की शरण लें? हम

और कुछ नहीं, प्रमाण चाहते हैं। न्याय का प्रश्न उठाना ही अभी सत्य का उपहास है। कारण, न्याय ज्ञान का परिणाम है अज्ञान का प्रतिफल नहीं।

—:०:—

३१—उर्दू का जन्म-दिन

उर्दू के बारे में जो भाँति-भाँति की बातें कही जाती हैं उनका अर्थ क्या होता है, इसके कहने की आवश्यकता नहीं। हाँ, आवश्यकता इस बात की अवश्य है कि हम उर्दू के इतिहास को ठीक ठीक जनता के सामने रख दें और यह भी स्पष्ट बता दें कि उसकी सृष्टि कब और कैसे हुई। सो उर्दू के प्रथम वैयाकरण सैयद इंशा अल्लाहखाँ ने कभी का (सन् १२२३ हि १८०८ ई०) घोषित कर दिया है कि शाहजहानाबाद (दिल्ली) के 'खुशबयान' लोगों ने मिलकर अन्य भाषाओं में कतर-ब्योंत और हेर-फेर कर एक नई भाषा पैदा की जिसका नाम 'उदू" रख दिया। उनका मूल कथन फारसी में है। किन्तु अंजुमन तरक्की 'उदू", दिल्ली की कृपा से इसका उर्दू में उल्था भी हो गया है। उसमें लिखा गया है—

"यहाँ के खुश बयानों ने मुत्तफ़िक़ होकर मुतादिद ज़बानों से अच्छे अच्छे लफ्ज़ निकाले और बाजे इबारतों और अल्फ़ाज में तसर्रुफ़ करके और ज़बानों से अलग एक नई ज़बान पैदा की जिसका नाम उर्दू रक्खा।"

सैयद इंशा अल्लाहखाँ ने उर्दू के बारे में अपनी अद्वितीय और अनूठी पुस्तक 'दरियाय लताफ़त' में जो कुछ लिखा है यदि वह सीधी भाषा में सबके सामने आ जाता तो आज उर्दू की बहुत सी कठिनाइयाँ अपने आप ही दूर हो जातीं और लोग तुरन्त समझ भी जाते कि हिन्दी और उर्दू में इतना संघर्ष क्यों है। कहते हैं कि भाषा गढ़ी नहीं जाती। पर उर्दू को इतिहास प्रगट दिखाता है कि भाषा गढ़ी भी जाती है। दूर जाने की बात नहीं अपनी आँखों के सामने ही प्रगट क्यों नहीं देख-लेते कि 'हिन्दुस्तानी' के नाम पर कैसी भाषा गढ़ी जा रही है। बस आज जो हिन्दुस्तानी के लिये किया जा रहा है वही कभी उर्दू के लिये भी किया गया था। क्यों किया गया। इसका उत्तर अभी नहीं दिया जायगा। अभी बताना तो केवल इतना है कि कभी दिल्ली के मुगल भक्तों ने मिलकर एक नई भाषा पैदा की और उसका नाम रख दिया उर्दू। उर्दू नाम क्यों रख दिया और कुछ और नाम क्यों नहीं रखा, इसका भी एक ठोस कारण है, पर उसका विचार फिर कभी 'उर्दू की भाषा' के प्रसंग में किया जायगा। यहाँ तो बस उर्दू के जन्म-दिन का पता बताना है। सो हम माने

लेते हैं कि उर्दू के जन्म-दिन का ठीक ठीक पता हमें भी नहीं है। परन्तु यह हमारा सौभाग्य है कि उर्दू के आदि उस्तादों ने उर्दू के विषय में उतना कुछ लिख दिया है कि हम उसके सहारे उसके सन्-संवत् का ठीक ठीक पता लगा सकते हैं। लीजिये उर्दू के आदि उस्ताद दिल्ली के शाह हातिम की गवाही है। आप अपने 'दीवानजादा' के 'दी बाचा' में लिखते हैं।

'इस काल में ग्यारह बारह वर्ष तक बहुत से शब्दों को त्याग कर अरबी और फ़ारसी के शब्द, जो सुगमता से समझ में आते हैं, और प्रयोग में बहुत आते हैं, और दिल्ली के रोज़मर्रा को कि 'मिरज़ाया ने हिन्द व फ़सीहानेरिन्द' अपने मुहावरा में प्रयोग करते हैं मंजूर रहा है।'*

शाह हातिम ने अपने दीवान को काट छाँट कर छोटा कर दिया और 'दीवान ज़ादा' के नाम से उसे प्रसिद्ध किया। सन् ११६६ हि० में उसकी भूमिका फारसी में लिखी गई और उसमें खुले शब्दों में कहा गया कि ११-१२ वर्ष से जो प्रयत्न भाषा के क्षेत्र में हो रहा था उसी का यह परिणाम है। तो इससे आप-ही सिद्ध हो जाता है कि हो-न हो उर्दू की स्थापना कभी-न-कभी ११५७-८ (११६६-११-१२) में हुई होगी जो ईसवी सन् १७४४-५ के लगभग है। जो हो, शाह हातिम के उक्त दीवान से इतना तो प्रगट ही है कि शाह हातिम ने अपने 'दीवान' को 'दीवान-ज़ादा' का रूप उर्दू की प्रेरणा से ही दिया और उर्दू का प्रमाण माना 'मिरजाया ने हिन्दू' अर्थात् हिन्द के मुगल राजकुमारों और फ़सीहाने रिन्द' अर्थात् फसीह सूफियों वा शिष्ट मुसलिम कवियों को। इसके आगे भी उन्होंने जो कुछ किया वह था "सिवाय आँ ज़बाने हर दयार ता हिन्दी की कि आँरा माका गोयन्द मौक़ूफ करदा"।

सीधी भाषा में इसका अर्थ यह हुआ कि मुगल राजकुमारों और शिष्ट सूफियों की जबान को तो शाह हातिम ने प्रमाण माना; पर चारों ओर फैली हुई भारती यहाँ तक कि 'हिन्दवी' वा 'भाषा' को नहीं। व्यापक

---

* "दरीं विला अज़दह दवाज़दह साल. अक्सर अलफ़ाज़रा अज़ नज़र अन्दाख्तः लिसाने अरबी व ज़बाने फ़ारसी कि करीबुल फ़हम व कसीरुल इस्तैमाल बाशदव रोज़मर्रः देहली कि मिर्ज़ायाने हिन्द व फ़सीहाने रिन्द दर मुहावरः दारन्द मंजूर दाश्तः।" (दीवानजादा की भूमिका से 'सौदा' अंजुमन तरक्की उर्दू, देहली, सन् १९३९ ई० पृ० २९ पर अवतरित)

'भाषा' को प्रमाण न माना तो न सही। पर नहीं, शाह हातिम तो खुली घोषणा करते हैं कि उन्होंने उसे छोड़ ही दिया, उसे 'मौक़ूफ़' ही कर दिया।

अस्तु, सैयद इंशा अल्लाह खाँ तथा शाह हातिम की गवाही से स्वतः सिद्ध होता है कि आज से लगभग २०० वर्ष पहले उर्दू का जन्म हुआ। सो कैसे, इसकी चर्चा फिर कभी होगी। अभी तो केवल इतना भर जानना है कि क्या कोई भी उर्दू परस्त इसे गलत वा अन्यथा सिद्ध कर सकता है? यदि हाँ, तो प्रमाण क्या? यदि नहीं, तो क्यों नहीं एक स्वर से मान लेते कि—

"उमदतुल्मुल्क (नवाब मुहम्मद अमीर खाँ) ने और उमरा के मशविरा से देहली में एक उर्दू 'अंजुमन' क़ायम की। उसके जलसे होते, ज़बान के मसयले छिड़ते, चीज़ों के उर्दू नाम रक्खे जाते, लफ़्ज़ों और मुहाविरों पर बहसें होती और बड़े रगड़ों-झगड़ों और छानबीन के बाद 'अंजुमन' के दफ़्तर में वह तहक़ीक़ शुदा अल्फ़ाज व महावरात क़लमबन्द होकर महफ़ूज़ किये जाते 'और बक़ौल' सियरुल मुताखरीन इनकी नक़लें हिन्द के उमरा बरुसा पास भेज दी जातीं और वह उसकी तक़लीद को फ़ख्न जानते और अपनी अपनी जगह उन लफ़्ज़ों और मुहाविरों को फैलाते।" (मुग़ल और उर्दू, एस० ए० उसमानी एंड संज, ७५ फ़िअर्स लेन कलकत्ता, १०६०)

'सियरुल मुताखरीन' की शहादत पर अदीबुल मुल्क नवाब सैयद नसीर हुसैन खाँ ने इतना और भी स्पष्ट कर दिया कि 'उर्दू की ईजाद' में नवाब मुहम्मद अमीर खाँ 'ईरानी' का मुख्य हाथ था जो मोहम्मदशाह रंगीला का खास मुँह लगा अमीर था और अपनी हँसी तथा विनोद के लिए प्रसिद्ध था। उसकी इस 'ईजाद' के साथी और उमरा भी वंश के हिन्दी कदापि न थे। कारण, उर्दू में कभी भी उनको सम्मान नहीं मिला और 'फ़रहँगे आसफ़िया' जैसे प्रतिष्ठित और प्रामाणिक कोष के लेखक मौलवी सैयद अहमद देहलवी ने तो उसकी भूमिका में स्पष्ट लिख दिया।

"यह लोग तुर्की उन्नस्ल थे, या फ़ारसी उन्नस्ल या अरबी उन्नस्ल। यह हिन्दी की मताबक़त किस तरह कर सकते थे।" (जिल्द अव्वल, रिफ़ाह आम प्रेस, लाहौर, सन् १६०८ ई०, पृ०८)

हुआ भी यही। शाह हातिम ने उन्हीं के प्रताप से 'हिन्दी को मौक़ूफ़' कर दिया और 'उर्दू' को ही प्रमाण माना। सारांश यह है कि

'उर्दू की ईजाद' मोहम्मद शाह रङ्गीला के शासन में उसके परम प्रिय ईरानी अमीर नवाब मुहम्मद अमीर खाँ की देखरेख में अन्य परदेशी अमीरों के सहयोग से हुई कुछ किसी 'बाज़ार' का 'लश्कर' में किसी 'हिन्दू-मुसलिम मेल' से नहीं।

—:०:—

३२—उर्दू बाज़ार में बनी या दरबार में

उर्दू के इतिहास की जहाँ-कहीं चर्चा होती है झट लोगों के मुँह से यही निकलता है कि चूंकि यह ज़बान बाज़ार में आपस की लेन देन से पैदा हुई इसलिए इसको 'उर्दू' कहते हैं। 'उर्दू बाजार' में 'उर्दू' का अर्थ क्या होता है इस पर किसी का ध्यान नहीं जाता और सभी इसको सत्य समझ बैठते हैं कि उर्दू बाजार में पैदा हुई इसी से इसको उर्दू कहते हैं। ठीक ! परन्तु कहीं किसी को यह भी पढ़ने को मिला है कि किस भाषा में उर्दू का अर्थ बाजार होता है और किस कवि तथा लेखक ने इस शब्द का व्यवहार इस अर्थ में किया है। ऐसा कुछ तो अभी इस जन की दृष्टि में न आया। हां, जहां तहां किसी हिन्दुस्तानी कोश में अवश्य इसका यह अर्थ भी मिल गया अन्यथा इसका अर्थ होता है कुछ और ही। देखिये उर्दू के सबसे प्रामाणिक कोश 'फ़रहंगे आसफ़िया' में इसके विषय में लिखा गया है—

"उर्दू-ते, इस्म मुवन्नस (१) लश्कर, फ़ौज कैम्प, लश्करगाह (२) लश्करी बोली और हिन्दुस्तानी वह ज़बान जो अरबी, फ़ारसी, हिन्दी, तुर्की, अंग्रेजी वगैरह से मिल कर बनी है, जिसे उर्दू-ऐ-मुअल्ला भी कहते हैं। ठीक और फ़सीह उर्दू अहल देहली और अहल लखनऊ की खयाल की जाती हैं। चूंकि यह ज़बान शाहजहाँ बादशाह के लश्कर में ईजाद हुई थी इसलिए यही नाम पड़ गया।"

कहिये, इसमें कहीं भी यह दिखाई देता है कि 'उर्दू' का अर्थ 'बाजार' भी है या निकल सकता है; रही लशकर में ईजाद हुई' की वार्ता, सो इसका विचार अन्यत्र किया गया है। यहाँ केवल यही बताना है कि उर्दू का अर्थ न तो बाजार होता है और न कोई उसका प्रयोग ही इस अर्थ में कहीं दिखा सकता है। रही 'उर्दू बाजार' की बात। सो भी उर्दू के बाजारी अर्थ के प्रतिकूल ही है और उसका अर्थ भी होता है—"सदर बाज़ार, लश्कर का बाज़ार, कैम्प का बाज़ार, छावनी का बाज़ार।" 'फ़रहंगे आसफ़िया' के इस कथन से इतना तो स्पष्ट हो गया होगा कि

'उर्दू बाजार' में उर्दू का अर्थ होता है 'सदर', 'लश्कर', 'कैम्प' या 'छावनी', कुछ 'बाजार' नहीं। फिर उर्दू का अर्थ बाजार आया तो कहाँ से आया और कैसे आया इसको भी तो स्पष्ट कर लेना चाहिये। अच्छा ! देखिये, एक बहुत बड़े दिमाग का कहना है कि—

"और जो कि यह जबान खास बादशाही बाज़ारों में मुरव्वज थी इस वास्ते इसको जबान उर्दू कहा करते थे और बादशाही अमीर उमरा इसी को बोला करते थे। होते-होते खुद इस जबान ही का नाम उर्दू हो गया।"

—(असारुस्सनादीद, ज़बान का बयान)

यह विचार भारत के प्रसिद्ध मुसलमानी नेता सर सैयद अहमद खां बहादुर का है। इसमें उर्दू का संकेत 'बाज़ार' की ओर अवश्य है पर साथ ही 'बादशाही' की भी क़ैद है। 'बादशाही अमीर उमरा' में उसी की और भी पाबन्दी है। कहा चाहें तो खुल कर कह सकते हैं कि यहां भी 'उर्दू' का 'सदर' अर्थ बना है पर वह 'लश्कर' से निकल कर 'बाज़ार' में आ गया है। अब सोचना यह चाहिये कि जब उर्दू का अर्थ बाजार नहीं होता तब उर्दू का संकेत बाजार आ कहाँ से गया है। सो, इसके लिए भी कहीं दूर भटकने की आवश्यकता नहीं है। सर सैयद की सूझ कहाँ तक सरकार के सहारे पर चलती थी, इसका थोड़ा बहुत पता तो अब सभी लोगों को हो गया होगा और यह भी प्रकट हो गया होगा कि उनकी दृष्टि में क्यों 'मुसलमान इस मुल्क के रहने वाले नहीं हैं।' तो फिर फोर्ट-विलियम-कालेज को ही क्यों नहीं सीधे पकड़ लेते और उसी के 'देहलवी' मुंशी की सनद क्यों नहीं लेते। कारण कि वही तो इन विलायती बाबुओं का घर था और वहीं तो भाँति-भाँति की ईजाद होती थी। स्मरण रहे, उसके विषय में उसके संस्थापक मारकुइस वेलेजली की स्पष्ट घोषणा है कि कालेज अवश्य रहे, नहीं तो साम्राज्य नष्ट हो जायगा। अपनी वाणी में दूसरे के जी की बात नहीं भाती तो उसी की वाणी में सुन लीजिये। बात १२ अगस्त सन् १८०२ ई० की है और लिखी भी गयी है निजी रूप में अपने मित्र श्री डेविड स्काटको। कारण यह था कि अँगरेजी कम्पनी बहादुर के डाइरेक्टर नहीं चाहते थे कि यहाँ कोई 'फोर्ट-विलियम कालेज'-सा कालेज चले और हमारे लार्ड मारकुइस वेलेजली तुले हुए थे कि नहीं, अवश्य कालेज चले। मतभेद का कारण लक्ष्यभेद ही था। लार्ड साम्राज्य चाहते थे और डाइरेक्टर द्रव्य, झगड़ा इसी

का था। सो लार्ड ने ताव में आकर मन लगे से खुलकर कह ही तो दिया—

'दी कालेज मस्ट स्टैण्ड आर दी एम्पायर मस्ट फाल।'

भला जिस कालेज की स्थापना पर साम्राज्य की नींव पड़ी थी उसकी नीति भी तो कुछ सजीव रही होगी! हो, परन्तु अभी तो देखिये यह कि वास्तव में यही वह विद्यापीठ है जहाँ उर्दू की ईजाद 'बाजार' में बतायी जाती है। सुनिये, इसके परम प्रसिद्ध मुंशी मीर अम्मन देहलवी का कहना है, और कहना है 'हक़ीक़त' की आड़ में बुजुर्गों के मुँह से। देखिये न किस खूबी और किस आन से बात की बात में कह जाते हैं—

"उनके आने और रहने से लशकर का बाज़ार शहर में दाखिल हुआ। इस वास्ते शहर का बाज़ार 'उर्दू' कहलाया' ('बाग़वो बहार' की भूमिका)।

'लशकर का बाजार शहर में दाखिल हुआ' तो 'शहर का बाजार उर्दू कहलाया।' 'शहर' का बाजार' 'लशकर' क्यों नहीं कहलाया क्यों 'उर्दू' कहलाया, इसका समाधान कदाचित इस 'उनके' से किया जाय। बात यह है कि अमीर तैमूर की बोली में 'उर्दू' शब्द का व्यवहार 'लशकर' के लिए होता था। फारसी में जिसको 'लशकर' कहते हैं तुर्की में उसको 'उर्दू।' ठीक पर कहलाने की यह रीति है निराली ही। 'लशकर का बाजार शहर में दाखिल हुआ इस वास्ते शहर का बाजार उर्दू कहलाया।' माना। मान लिया कि यह अक्षरशः सत्य है; परन्तु यह भी कैसे सत्य मान लें कि 'लशकर का बाजार' शहर में पहुँचा नहीं कि उसका नाम ही मिट गया। आखिर वह हो क्या गया? और सच तो कहीं कोई भी उर्दू का सपूत यह दिखा सकता है कि अमीर तैमूर तो क्या उसके पड़पोते के पड़पोते के समय में भी दिल्ली शहर में कोई बाजार उर्दू कहलाता था। 'उर्दू बाजार' का पता कब से है? क्या उर्दू के किसी भी विद्वान् ने नवाब सहरयार जंग बहादुर के इस निष्कर्ष को अब तक अन्यथा सिद्ध किया कि 'उर्दू' वास्तव में 'उर्दू बाजार' में नहीं बनी बल्कि उर्दू बाजार ही 'उर्दू' के लिए बना। स्मरण रहे उनका निष्कर्ष है कि उर्दू का जन्म घर 'दरबार' है न कि 'बाजार' और उनका दावा है कि शाहजहाँ के समय में 'उर्दू बाजार' देहली में था ही नहीं। जो लोग उनकी शोध को देखना चाहते हैं उन्हें 'मक़ालात उर्दू' का अध्ययन करना चाहिये। मुसलिम यूनिवर्सिटी ने उसे सन् १९३४ ई० में प्रकाशित कर दिया है और इस जन ने जहाँ-तहाँ अपनी पुस्तकों में दिखा भी दिया

है कि वास्तव में उर्दू दरबार ही की चीज हैं 'घरबार' या 'बाजार' की कुछ भी नहीं। 'दरबार' की ही यह पुकार है कि जनाब सर सैयद अहमद खाँ बहादुर जैसे नीति निपुण 'ठेठ मुसलमान' को 'बादशाही' और 'बादशाही अमीर उमरा' का नाम लेना पड़ा है। निदान मानना पड़ता है कि जो लोग 'उर्दू' का अर्थ 'बाजार' करते अथवा उर्दू को 'बाजार की चीज' समझते हैं वे भारी भ्रम में पड़े हुए हैं। उर्दू के जन्म का पता अब इतने ठौर-ठिकाने का हो गया है कि उसको कोई भी महात्मा, किसी भी योग बल से अन्यथा सिद्ध नहीं कर सकता। स्थिति तो यह है परन्तु फिर भी लोग उर्दू को मेल जोल या सब की भाषा समझते हैं उनको भूलना न होगा कि हिन्दू की तो बात ही क्या, हिन्दी मुसलमान भी उर्दू में कभी प्रमाण नहीं माना गया है। आज 'हवा का रुख' बदला अवश्य है। 'कालेज' तो कभी का (सन् १८५४ ई० में) चला गया और फलतः आज साम्राज्य भी जाने को खड़ा है। अस्तु; कोई कारण नहीं कि उक्त कालेज का यह प्रपंच क्यों पड़ा रहे और क्यों हम आज भी उर्दू को 'बाजार' या 'सौदा सुल्फ लेन-देन' की चीज समझें। उसके सच्चे इतिहास के आधार पर उसे 'दरबार की ईजाद' क्यों न मानें ? है किसी में इसको अन्यथा सिद्ध करने का बूता ? शाप नहीं शोध की बात ठहरी, काम भी शोध से ही लेना होगा, प्रलोभन या प्रेरणा से नहीं।

—:०:—

२३—नागरी की उपेक्षा क्यों ?

हिन्दी को छोड़ हिन्दुस्तानी को ग्रहण करना और दारुस्सलाम को त्याग पाकिस्तान का हो रहना इस बात का द्योतक है कि आज अरबी नहीं फ़ारसी भावना मुसलमान को उभार रही है, और उसे कट्टर बना रही है इसलाम के लिये नहीं, अपितु आन और शान के लिये। अन्यथा, यदि आज के हिन्दी मुसलमान में सचमुच इस्लाम का उछाह होता तो वह अरबी शब्द हिन्दी को छोड़कर फारसी शब्द हिन्दुस्तानी को क्यों ग्रहण करता ? उसकी इस फारसी-भक्ति का एक मात्र कारण है फारसी का यहाँ कभी राजभाषा होना। उसका तर्क आज यही है कि फारसी कल राजभाषा थी तो कोई कारण नहीं कि हिन्दुस्तानी आज राष्ट्रभाषा क्यों न हो। हिन्दुस्तानी का अर्थ आज उर्दू हो सकता है और वस्तुतः है भी, पर हिन्दी का अर्थ तो आज यह नहीं लगाया जा सकता। रहा 'उर्दू' शब्द, सो तो राष्ट्रभाषा के नाम के लिये सर्वथा अनुपयुक्त है। उससे

किसी प्रकार भी देश का बोध नहीं होता और यदि होता है भी तो निरा दिल्ली का मुगल दरबार। निदान उसका बहिष्कार कर हिन्दुस्तानी का सत्कार करना ही उदार मुसलिम दृष्टि है। परन्तु विपत्ति की मारी हिन्दुस्तानी आँखों के सामने किस रूप में आए, अर्थात् उसकी लिपि क्या हो, यही सारा टंटा है। है तो वह यथार्थ में उर्दू ही पर उर्दू उसकी लिपि हो ही नहीं सकती। लिपि का द्वन्द्व इतना प्रकट है कि वह किसी भीतरी पुकार से ठुकराया नहीं जा सकता। निदान मानना पड़ता है कि दोनों। हाँ, इस दोनों का विचार भाव की दृष्टि से नहीं उठता, भाषा की दृष्टि से नहीं उठता, और नहीं उठता भूमि की दृष्टि से, नहीं, यह तो उठता है केवल 'मुसलमान' के समझौते की दृष्टि से। किसी समझौते या सन्धि के हम विरोधी नहीं, पर हम बताते हैं कि हमारा पुराण और आप का अनुभव जताता है कि आज का 'जरासंध' सा समझौता भी कृष्ण की कृपा से क्षण में बिलगा उठेगा और होगा इस 'जरासंधी' राष्ट्र का क्षण में भीम के द्वारा विनाश भी। अतः छोड़ो इस संधि-चर्चा को, छोड़ो इस समझौता-सार को और छोड़ो इस हिन्दी-उर्दू-द्वन्द्व को और गहो बस नागरी को। नागरी भाषा को गहो वा न गहो पर नागरी लिपि को तो अपना ही लो। नागरी लिपि अपनी ही है, अपने देश की ही है और है अपने अतीत की ही नहीं, अपनी साधुता और विज्ञान के कारण समस्त संसार की भी। किन्तु अभिमानी संसार उसे अपना नहीं सकता तो कृपा कर कम से कम आप तो उसे देश-निकाला न दें और सभी धान को साढ़े सोलह पसेरी के भाव पर न आँकें। आप कान को धोखा दे सकते हैं पर आँख को नहीं, आँख को धोखा दे सकते हैं पर ज्ञान को नहीं, ज्ञान को धोखा दे सकते हैं पर विज्ञान को नहीं। अरे! अकेले आप किस किस को धोखा देंगे और कब तक इस निरीह-राष्ट्र को द्वैत की चक्की में पीसते रहेंगे? अरे! यदि कहने का, सच सच कहने का खरा साहस नहीं होता तो चुपचाप खड़े क्यों नहीं हो जाते और क्यों नहीं जनता को अपने सहज मार्ग पर चलने देते? एक नहीं दो, दो नहीं तीन। इसका भी तो कहीं कोई अन्त होना चाहिये। बस खीसते रहो, छींकते रहो और करो कुछ नहीं। नहीं यह मंगल का मार्ग नहीं, पतन का पैंडा है। विवेक का कहना है और सो भी माननीय जस्टिस शरफ़ुद्दीन के मुँह से—

"इस परिषद् (एक लिपि विस्तार परिषद्) के उद्देश्य पर विचार करने से मेरे मन में यह बात स्वभावतः उठती है कि मेरा जन्म इसी

भारतवर्ष में हुआ है। मैं इसी के अन्न से प्रतिपालित हूँ, और उसी आकाश के तले रहता हूँ जिसके तले मेरे भाई हिन्दू लोग रहते हैं। ऐसी अवस्था में क्या कारण है कि हिन्दू और मुसलमान अपने अपने मन के भाव एक ही लिपि द्वारा न प्रकाश करें। वस्तुतः मैं अति उत्सुकता से उस दिन की प्रतीक्षा कर रहा हूँ कि जब सारे हिन्दुस्तान में एक ही लिपि का प्रचार हो और अरबी क्या फ़ारसी के ग्रन्थ उसी लिपि में प्रकाशित हों। इसमें कठिनाइयाँ अवश्य हैं। देवनागरी वर्णमाला में कोई अरबी के अक्षरों का अभाव है, जिनको अँगरेजी में गुटरल (कंठ्य) वर्ण कहते हैं। परन्तु जब हमारे मित्र माननीय जस्टिस शारदाचरण मित्र और अन्य विद्वानों का ध्यान भारत की सब भाषाओं को एक लिपि द्वारा प्रकाशित करने की ओर हुआ है तो आशा है कि इन अक्षरों के लिये भी देवनागरी लिपि में कोई संकेताक्षर स्थिर किये जायँगे, और उसी लिपि में भारतवर्ष की सब भाषाएँ लिखी जायँगी।" (राष्ट्रभाषा, हिं० सा० सम्मेलन १९७६ वि०, पृ० २७-८)।

जस्टिस शरफ़द्दीन ने जो कुछ कहा है उसको ठीक ठीक जानने के लिये इतना और जान लें कि—

"It is easily intelligible how this uncongerial mode of writing has made the acquirement of Urdu so extraordi-narily difficult, and no one can wonder that our children take more than two years simply to read fluently their own mother tongue.

This difficulty in the acquirement of Urdu reading has been, and is to this day, the chief cause of the backwardness of Mohamadan education. Amongst on other peopla occupying the same intellectual position as we do, is the number of individuals who can read and write, so small. What is still more remarkable, although perfectly intelligible, is the fact that this number is much greater amongst people who like the Mohamedans of Sindh, Bombay and east Bengal, have given up this uncongenial character and who make use of the Aryan alphabets of Sindhi, Guzarati and Bengali."

और "My chief object in entering on this discussion is to prove, that while it is our duty to preventany large importations of foreign words into the Urdu language, it is also our duty to devise means for lightening the labour and difficulty of reading the Urdu character."

शमसुलउल्मा अल्लाकम सैयद अली बिलग्रामी ने सन् १८९८ ई० या उससे भी पहले उर्दू की लिखावट के विषय में 'तमद्दुन अरब' की भूमिका में जो कुछ लिखा है उसका सार यही है कि उर्दू जिस शामी लिपि में लिखी जाती है उसका पढ़ना दुरूह और अत्यन्त कठिन होता है, और यह उसी का परिणाम है कि मुसलिम जनता शिक्षा में अपने वर्ग की अन्य जनता से बहुत पीछे है। उसमें भी वहीं उसकी संख्या अधिक है जहाँ इस लिपि का व्यवहार नहीं होता और कोई न कोई आर्य लिपि ही व्यवहार में आती है, जैसे गुजरात और पूर्वी बंगाल आदि। इतना ही नहीं, उनका तो यह भी प्रस्ताव है कि जहाँ उर्दू को विदेशी शब्दों से बचाना अपना धर्म है वहीं लिपि की इस विकट-लीला को भी किसी उपाय से दूर करना। कहने को सैयद अली साहब ने सच्ची बात सामने रख दी पर करने को उनकी लेखनी कुछ भी आगे न बढ़ी। बढ़ती भी कैसे ? वे थे भी हिन्दी मुसलमान और थे हैदराबाद के तूरानी शासन के अंग। फिर भला उनके मुख से नागरी का नाम क्यों निकलता ! परन्तु क्या आप जानना चाहते हैं कि स्वतन्त्र ईरान आज आप को क्या सिखाता है ? सुनिए। ध्यान से सुनिए। उसी का लाड़ला सपूत अब्बास बिन मुहम्मद शुस्तरी कह रहा है 'आउट लाइंस आव इसलामिक कलचर' जैसी इसलामी किताब में। और उसी 'कलचर' में जिसके नाम पर आज हिन्दी का गलाघोंटा जा रहा है। और उसी हिन्दी का जो यहाँ के मुसलमानों की सदा प्यारी जबान रही है, और रही है समर्थ सुलतानों और सशक्त बादशाहों के व्यवहार और शासन में। क्या कहता है ? यही न—

"If Urdu writers adopt an alphabet agreeable to those who are accustomed to write it in character invented on different lines from the Semitic and suitable to Indian vernaculars, they will perhaps be doing the greatest service for the more rapid

spread of Urdu in India itself. Urdu is an offshoot of Sanskrit but unfortunately it has adopted its foster-parents Arabic and Irarian, as her true father and mother. It has not enriched itself from its original sources." (Vol I P. 160)

श्री शुस्तरी पुकार कर कहते हैं कि उर्दू यदि किसी आर्य लिपि को अपना ले तो उसका बड़ा भारी कार्य हो जाय। उनका यह भी कहना है कि शामी लिपि से यहाँ की किसी भी देशलिपि का कोई लगाव नहीं। यहाँ की सभी देशी लिपियाँ तो ब्राह्मी से निकली हैं। यही नहीं, उनकी दृष्टि में तो यह भी उर्दू का दुर्भाग्य है कि वह उपजी तो इस देश में पर वह सदा पालन-पोषण के लिए मुँह ताकती रहती है अरबी और ईरानी का। इसने अपने मूल सोतों से अपना पेट नहीं भरा। तात्पर्य यह कि यदि नागरी को उर्दू अपनी लिपि बना ले और संस्कृत से दूरभाव छोड़ दे तो उसका परम कल्याण हो। पर हिन्दुस्तानी के उपासक क्या कहते हैं, इसे हम नहीं जानते। कारण, वास्तव में महात्मा गाँधी हिन्दुस्तानी के भक्त हैं, इसे हम नहीं मानते। हम तो उन्हें राष्ट्र के सुमेरु के रूप में ही सर्वत्र पाते हैं। यह बात दूसरी है कि आज उनके कन्धों पर उर्दू का फरिश्ता बैठा है और बैठा है लोभ का देव भी किन्तु तो भी उनके सर पर सवार तो है एकता का भूत और राष्ट्र का उद्धार ही न ? फिर हम उनसे नागरी के विषय में और कुछ क्या कहें ? सचमुच आज तो आप की कायरता की कृपा से उनकी स्थिति यह है—

"जानामि धर्मं नच मे प्रवृत्तिः जानाम्यधर्मं नच मे निवृत्तिः ?
त्वया हृषीकेश हृदि स्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि"

ऐसी परिस्थिति में इतना निवेदन कर देने के अतिरिक्त हम आपसे और कह ही क्या सकते हैं कि किसी भी राष्ट्र का उद्धार किसी उधार चिन्ता से नहीं होता और न किसी जोड़-जाड़ से कोई राष्ट्र ही बनता राष्ट्र समष्टि का नाम है सन्धि का नहीं। समष्टि कहती और प्राण खोल कर दिखातीं है कि ब्राह्मी या नागरी ही यहाँ की एकमात्र राष्ट्रलिपि है। देखिए लन्दन का लाड़ला पंडितमणि श्री थामस भी कहता है कि—

"The ideal of 'a single script for India" is involved in certain controversies, and for the present

is Utopian. An historical view, though it reveals many stages of development, tends to clarity. For all the alphabets native to India are descended from a single from of writting the Brahmi, worked out in the Aryan period for the most part they have preserve d its excellent systems and modified only (but beyond in exeprt recognition) the actual shape of the characters. The system, an outcome of the remarkable philoligical and phonological precision wherein the early Indians surpassed all ancient peoples, has been of priceless service: it has provided all the languages with an exact reflex of their pronunciation, and it furnished the philologist with a measure whereby to estimate their history. Nor has this alphabetic legacy from Aryan India confined its Benefits to the languages of the sub-continent. Ceylone and the Malya islands, Further India, Tibet and Central Asia were equipped with exact notations, which records their pronunciation at the time :-if China had consented to adopt a similar philological equipment many troublesome obsecnities in its linguistic history would have been precluded, and its written character would have lost its terror." (The Legacy fo India. Oxford, 1937, P. 47).

श्री थामस महोदय ने उचित समझा कि नागरी के अतीत को विश्व के सामने रख दें और फिर यह भारत के विवेक पर छोड़ दें कि वास्तव में वह किसे अपनी एकता की लिपि बनाता है। कृपाकर उन्होंने इतना और बता दिया कि यह इतिहास की साक्षी है कि भारत की सारी वर्णमालाएँ वस्तुतः एक ही वर्णमाला ब्राह्मी की सन्तान हैं जो उस समय रची गई थीं जब यहाँ आर्य-काल था और ऐसी रच ली गई थीं कि जैसी किसी अन्य लोक में नहीं बनी। बनकर वह यहीं पड़ी ही नहीं रही अपितु समस्त देश में व्याप्त हो गई और फलतः आज भी सभी देशभाषाओं की लिपि बनी है। भाषा विज्ञान की खान होने के कारण

जहाँ कहीं व्यवहार में आई वहाँ की वाणी को अपने मूल रूप में सुरक्षित कर दिया। यह घर की भाषाओं तक ही सीमित नहीं रही अपितु सिंहल, मलय-द्वीपों और उनसे भी परे पहुँच गई। तिब्बत और मध्यएशिया को भी इसका सच्चा साधन मिला जिसका फल यह हुआ कि वहाँ की वाणी सुरक्षित और निर्विकार रूप में अंकित हो सकी। और यदि चीन को भी यह मान्य हो जाती तो उसकी भाषा का अतीत इतना अस्पष्ट न रहता और उसकी लिपि की वर्तमान बीहड़ दुरूहता भी न रह जाती। ठीक है। पर किसके लिये ? प्राणहीन प्राणी वाणी के महत्त्व को क्या जाने और क्या जाने एकता की रट लगाने वाला जीव जीवन की प्रसन्न धारा को ? मौन सीप की साधना का परिणाम है मोती पर चटुल चातक की पुकार का परिणाम क्या है, इसे कोई नहीं बताता। बोलने की चिन्ता छोड़ो। मूक भी अपना काम चला लेता है। पर वाणी की चिन्ता करो। यदि चाहते हो कि 'लिखे मूसा पढ़े खुदा' की बात यहाँ भी चरितार्थ न बने तो उठो नागर बनो, नागरी को अपनाओ। उठो और उसके द्वारा जन-जन को साक्षर बनाओ, फिर तुम्हारे राष्ट्र को अक्षर बनने में सन्देह नहीं। संशय विनाश का पथ है निश्चय उद्धार का उपाय। क्या अब भी इस-उस के चक्कर में पड़े रहोगे और नागरी के द्वारा अपनी ब्रह्म वाणी को न जगाओगे ? ब्राह्मी, ब्राह्मी, ब्राह्मी। नागरी, नागरी, नागरी। बस यही आत्मोद्धार का मूल मंत्र है और यही है राष्ट्रोद्धार का तारक मंत्र भी। स्मरण रहे, सब से सब कुछ नहीं होता, हाँ, कुछ से बहुत कुछ अवश्य होता है। अतः, बस कुछ होने की चिन्ता करो, सब कुछ बनने की कदापि नहीं। समर्थ की छाया में पथिक आप आता है छाया पथिक के पास नहीं जाती। पथिक तो उसके आने से भागता और उसे भूत की छाया समझता है। बस, है न यही बात ?

—:o:—

३४—अरबी क्यों नहीं ?

राष्ट्रभाषा के प्रसंग में जब कभी संस्कृत का नाम लिया जाता है तब कहीं से पुकार उठती है 'अरबी क्यों नहीं' ? 'अरबी क्यों नहीं' की पुकार क्यों उठती है, इसका कारण दूर नहीं। कोई भी कह सकता है कि जब हिन्दुओं की धर्मभाषा संस्कृत का नाम लिया जाता है तब मुसलमानों की धर्मभाषा अरबी का क्यों नहीं लिया जाता। देखने में तो बड़ी ही सरल

बात है पर विचार करने पर पता चलता है कि इस प्रश्न वा जिज्ञासा में ज्ञान की पिपासा नहीं, विषमता का द्वेष है। हिन्दू देशवाचक शब्द से धर्मवाचक शब्द हो गया तो कोई बात नहीं पर मुसलमान तो धर्मवाचक ही शब्द रह गया फिर किसी राष्ट्र के प्रसंग में उसका नाम क्यों लिया जाता है ? कहा और बड़े अभिमान के साथ कहा जाता है कि हिन्दुस्तान में मुसलमान भी तो रहते हैं फिर इस देश को केवल हिन्दुओं का देश क्यों मान लिया जाय ? अच्छा यही सही; पर कृपया यह तो कहो कि जब इस देश पर मुसलिम झंडा फहरा रहा था और चारों ओर खलीफा के नाम का खुतबा पढ़ा जा रहा था तब किसी ने यह प्रश्न क्यों नहीं किया कि फारसी तो अरबी क्यों नहीं ? हिन्दी तो अरबी क्यों नहीं ? संस्कृत तो अरबी क्यों नहीं ? और जब अंगरेजी ने सब को धर दबाया तब 'अरबी क्यों नहीं' ? यदि कहो कि प्रश्न हुआ पर सुनवाई न हुई तो इसका कारण सुनो और देखो कि इस जिज्ञासा की मूल-प्रेरणा क्या है—धर्म वा द्वेष, ईर्ष्या वा डाह ?

अच्छा, तो ध्यान देने की सबसे पहली बात तो यह है कि जब किसी के मुँह से संस्कृत की जोड़ में अरबी का नाम निकलता है तब उसके सामने 'दीन' वा 'मजहब' का ही प्रश्न रहता है और वह इसी मजहब के काँटेपर संस्कृत को भी तौलना चाहता है। परन्तु प्रमाद के कारण उसे इतना भी चेत नहीं रहता कि संस्कृत का भारत से वही सम्बन्ध है जो अरबी का अरब से। संस्कृत को जो 'भारती' और अरबी-फारसी में 'हिन्दी' कहते हैं उसका भी संकेत यही है। सच तो यह है कि यदि इस अरबी के पुजारी अपनी उस अरबी के 'हिन्दी' नाम पर ही विचार करते तो उन्हें पता चल जाता कि उनके बाप-दादों वा पूर्वजों ने क्यों एक ही नाम से संस्कृत एवं प्राकृत तथा हिन्दी को याद किया और फलतः आज भी क्यों हिन्दी के प्रसंग में उस पुरानी हिन्दी अर्थात् संस्कृत का नाम लिया जाता है। संस्कृत ने कब और कैसे हिन्दी का रूप धारण कर लिया इसका जानना और जनाना जितना ही कठिन है उतना ही यह मान लेना सरल एवं स्वाभाविक भी कि समय पाकर जो भाषा कभी संस्कृत बनी और अरब में हिन्दी के रूप से ख्यात रही वही समय पर हिन्दी बनी और अरब तथा इस देश में हिन्दी के रूप में ख्यात हुई। अब क्या हम 'अरबी क्यों नहीं' के उपासकों से विनीत भाव से पूछ सकते हैं कि अपने जीवन के किसी काल में भी क्या कभी अरबी भी हिन्दी बनी है ? यदि नहीं तो फिर आज क्यों ? क्यों उसे संस्कृत का सहज भाव आँख का काँटा

प्रतीत होता है और वह हिन्दी की राष्ट्रभाषा के प्रसंग में खौलता उठती है ?

अच्छा ! अब तुम्हारा कहना यह हो गया कि अतीत के कारण नहीं दीन की प्रेरणा से ! अच्छा, यही सही, किन्तु कृपया यह तो कहो कि यह दीन की प्रेरणा आ कहाँ से गयी ? यदि कहो कि अल्लाह के आदेश अथवा कुरान मजीद के प्रताप से तो सुनो वह पुकार कर कहता है—

'और (आक्षेप करते हैं कि कुर्आन अरबी भाषा में क्यों उतारा गया, तो ऐ रसूल ! तुम इनसे कह दो कि) हमने (जब) किसी रसूल को भेजा, तो (उसको) उसी की जाति (और उसी के देश) की भाषा में (अपनी किताब प्रदान की और वही भाषा उसको सिखलायी) जिससे कि वह उनको (अर्थात् अपनी जाति के लोगों को) साफ (साफ अल्लाह के आदेशों को) बता सकें।'—सूरत इब्राहीम, आयत ४।

अब तुम्हीं कहो, हम किसके आदेश पर ध्यान दें, तुम्हारी पुकार पर कान दें अथवा उसके आदेश पर चलें ? है न कुरान मजीद में पाक अल्लाह का यह विधान कि किसी देश और किसी जाति की भाषा का विनाश कर उस पर किसी दूसरे देश और किसी दूसरी जाति की भाषा मत लादो ? फिर तुम्हीं कहो कि तुम यहाँ की राष्ट्रभाषा के प्रसंग में अरबी का नाम क्यों लेते हो ? अरे, हम तो संस्कृत का नाम इसलिए लेते हैं कि वह अरब और ईरान की दृष्टि में भी हिन्दी है और हमारी दृष्टि में तो हिन्दी ही नहीं हिन्द की सभी भाषाओं की जन्मदात्री वा धात्री भी। फिर उसकी और अरबी की तुलना कैसी ?

नहीं। अच्छा, नहीं सही। तो क्या शासन की शान ऐसा कहने को सता रही है ? लो, इसी को ले लो और देखो कि यहाँ भी कैसा रोर मचा रहे हो। जानते हो कभी यहाँ अरबी का राज्य था ? कह सकते हो कि सिन्ध के अरब शासन में अरबी राजभाषा थी। ठीक। पर सच तो कहना, उसका अन्त किसने कर दिया ? किसी हिन्दू काफिर अथवा तुर्क मुसलमान ने ? बगदाद से अरबी कैसे हटी, इसे क्यों कहें ? वह तो देश के बाहर की बात ठहरी। पर इसी देश के एक कोने में जो घटना घटी उसको कैसे छोड़ दें और भुला भी इसे कैसे दें कि जब कट्टर से कट्टर गाजी औरंगजेब ने भी इसका राजकाज वा बात-व्यवहार में स्वागत नहीं किया और इसे 'किताब' की भाषा के रूप में ही अलग रहने दिया तब हम आज उसे कैसे राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार कर लें अथवा उसके प्रसंग में उसकी चर्चा भी करें ? अरे ! कहीं कोई न्याय भी है या यों ही

मनमानी झाड़ रहे हो ? देखो, सुनो और समझो भी कि तुम राष्ट्रभाषा के प्रसंग में अरबी का नाम क्यों लेते हो ? क्या दीन और दुनिया का सारा इतिहास भूल गया है और याद रह गया है केवल संस्कृत को कोसना ही ?

लो, देखो न, हिन्दुस्तान पर तुर्की शासन चल रहा है, ईरानी शासन चल रहा है, अफगानी शासन चल रहा है पर कहीं भी तो अरबी को वह पद नहीं दिया जा रहा है जो फारसी को सहज में ही प्राप्त हो रहा है। बताओ तो सही, कारण क्या है। क्यों मुसलिम राज्य में भी अरबी राज-भाषा तक नहीं बनायी जा रही है ? राष्ट्रभाषा का बनाना तो कुछ बूते के बाहर की बात है। और संस्कृत—वह तो कहीं अपने शुद्ध रूप में, कहीं अशुद्ध रूप में, कहीं भ्रष्ट रूप में, कहीं किसी रूप में, कहीं किसी रूप में, अर्थात् किसी न किसी रूप में सर्वत्र चलती रही है। उसका राज नहीं रहा तो न सही पर उसका देश तो अभी नहीं छूटा ? उसका रूप बदल गया तो कोई बात नहीं उसकी सत्ता तो अभी नहीं मिटी ! फिर यह गोहार कैसी ? संस्कृत से इतना द्वेष क्यों ?

अच्छा, छोड़ो इस पवाँरे को, बीती बातों की इस उद्धरणी से कोई लाभ नहीं। अब तर्क और विज्ञान का समय है, भावुकता का राज्य नहीं। तो यह तो और भी अनुपम बात हुई। सच तो कहो-अरबी का किस शास्त्र से, किस न्याय से, किस विज्ञान से यहाँ की देशभाषाओं से कहीं का कोई दूर का भी नाता है ? अथवा उसके बनने बनाने का ढंग भी इनमें से किसी से कुछ भी मिलता है। अरे ? जब यह कुछ भी नहीं तब यहाँ की राष्ट्रभाषा के प्रसंग में अरबी का नाम किस मुँह से और क्यों लेते हो ? क्या अभी तक इतना भी नहीं जान पाये हो कि संस्कृत का सभी देशभाषाओं से कुछ न कुछ सम्बन्ध अवश्य है। उत्तर भारत की समस्त देश-भाषाओं का मूल-स्रोत वही है जो संस्कृत का, और द्रविड़ भाषाएँ भी प्रकृति वा मूल को छोड़कर सभी प्रकार उसके साथ हैं। और सुनना ही चाहते हो तो लो सुनो और इतना और भी जान लो कि कल की राजभाषा फारसी भी इसी वंश की है और सहोदर नहीं तो सगी तो अवश्य है। और भी सुनो कि आज की राजभाषा अंगरेजी भी इसी 'मुई' संस्कृत के परिवार की है। उससे भी इसका कभी का कुटुम्ब का नाता है। फिर तुम्हीं कहो कि राष्ट्रभाषा के प्रसंग में संस्कृत के साथ ही अरबी का भी नाम लेना किसी ईमान पर निर्भर है या नहीं ? कहो तो तुम राष्ट्रभाषा के क्षेत्र में अरबी का बीज क्यों बोते हो ? इससे काटना क्या चाहते हो ? रही हमारी बात। सो तो प्रत्यक्ष ही है संस्कृत इतिहास के आदि काल से

किसी न किसी रूप में हमारी राष्ट्रभाषा चल रही है और फलतः आज जीवित भी है। यह बात दूसरी है कि समय के साथ उसका रूप भी बदल गया है पर उसकी प्रकृति और प्रवृत्ति आज भी निश्चय ही वही है जो कभी थी और कोई कारण नहीं कि आगे भी वही क्यों न रहे।

अस्तु, जो हो सो हो, पर यह कभी न हो कि राष्ट्र राष्ट्रभाषा के प्रसंग में प्रमादवश अपने सहज विवेक को छोड़कर उमंग में आ कभी यह भी मान ले कि राष्ट्र वा राष्ट्रभाषा पर अरबी का भी वही अधिकार है जो सहज में ही संस्कृत को स्वभावतः प्राप्त है। राष्ट्रभाषा के प्रस्ताव पर जो विवाद उठते हैं उनको देखकर तो यही प्रतीत होता है कि अब भारत से विवेक उठ गया और छा गया चारों ओर वितण्डा का आतंक। सच तो यह है कि आज सत्य कहने में जितना साहस बटोरना पड़ता है उतना झूठ बखेरने में नहीं। जानता तो नहीं पर इतना देखता अवश्य हूँ कि लोग अरबी का नाम आते ही संस्कृत से इतनी दूर भाग जाते हैं कि जिसका कुछ ठिकाना नहीं। पता नहीं, यह भय है, विवेक है या विनाश। जो हो पर यह उत्थान का मार्ग नहीं पतन का अवश्य है।

—:०:—

३५—मातृ-भाषा

माता के प्रति हमारी जो सहज ममता है वही मातृभाषा की प्रबल पुकार के मूल में भी काम कर रही है। इधर कुछ दिनों से मातृभाषा के कुछ ऐसे उपासक निकल आए हैं जो वस्तुतः मातृभाषा के स्वरूप से अपरिचित रह जाने के कारण देश की सभी बोलियों को उच्च शिक्षा का माध्यम बनाना चाहते हैं और भाषा के क्षेत्र में भी पक्का साम्यवाद स्थापित करना चाहते हैं। 'समत्व' की भावना चाहे जितनी पवित्र हो पर व्यवहार समता पर नहीं चलता। पंडित ब्राह्मण, गो, हाथी, कुत्ता और चांडाल को समदृष्टि से देखकर अपनी आत्म-साधना का पूरा परिचय दे सकता है किन्तु विश्व के व्यवहार में कोई व्यापारी उन्हें तुल्य मूल्य नहीं चुका सकता। 'अन्धेर नगरी चौपट राजा' और कुछ नहीं इसी उड़ते साम्यवाद की गहरी पकड़ है। अस्तु, यदि हमें इस 'अन्धेर नगरी' से दूर रहकर अपने उद्धार तथा उत्थान की चिन्ता करनी है तो बोली और भाषा के भेद को समझकर ही इस क्षेत्र में बढ़ना होगा, कुछ मातृभाषा की कोरी पुकार अथवा जनपद की छूछी गोहार पर नहीं।

कहते हैं और डटकर लिखा भी जा रहा है कि मातृभाषा को शिक्षा का माध्यम बनाओ। बनाओ, इसका विरोध कर कौन सकता है। परन्तु कहो तो सही, यह मातृभाषा है क्या बला। कहते हैं कि बच्चा अपनी माँ की गोद में बैठकर उसके मुँह से जो भाषा सीखता है उसमें कभी व्याकरण की भूल नहीं करता और वस्तुतः वही उसकी सच्ची मातृभाषा है। फलतः उसी में उसकी उच्च से उच्च शिक्षा होनी चाहिए। अच्छा, तो इसका सीधा अर्थ यह निकला कि भाषा के क्षेत्र में बालक को कुछ और सीखना शेष नहीं रहा और यदि रहा भी तो केवल इतर भाषाओं को ही। माना आपकी दृष्टि साधु है। पर कृपया यह तो कहें कि बालक का पिता से भी कुछ सम्बन्ध है वा नहीं? आप मातृभाषा के प्रसंग में कहीं भूल तो नहीं जाते कि वस्तुतः माता भी अपनी मातृभाषा को तजकर किसी पति-भाषा के क्षेत्र में पदार्पण करती है और गोत्र की भाँति ही क्षेत्र एवं 'भाषा' को भी तज देती है और ग्रहण करती है पतिदेव के गोत्र, भाषा तथा भाव को। तात्पर्य यह कि वास्तव में बालक जिस देश में जन्म लेता है उसी की भाषा से उसका घना सम्बन्ध होता है, कुछ माता की अपनी बोली से नहीं। सच तो यह है कि स्वयं माता को भी अपनी बचपन की बोली को छोड़कर पति की बोली का अभ्यास करना पड़ता है। यदि विवाह घरपटे का व्यापार होता तो मातृभाषा के पुजारियों की बन जाती और वे गोद की बोली को वेदान्त की भाषा भी बना लेते पर जब तक 'दुहिता दूरे हिता' की भावना बनी है तब तक मातृभाषा के प्रसंग में कुछ विवेक से काम लेना ही होगा और यह बताना ही होगा कि सचमुच मातृभाषा की गोहार क्यों मचाई जा रही है।

कहते हैं 'हिन्दी' हमारी मातृभाषा नहीं, वह तो राष्ट्रभाषा है। हम उसे अपनी शिक्षा का माध्यम क्यों बनायें? ठीक है। पर आपकी मातृभाषा भी तो कोई होगी? कहते हैं—है और हिन्दी से बढ़ चढ़कर है! हो, और भी अच्छा है। हिन्दी को उससे और भी आगे बढ़ने को बल मिलेगा। परन्तु रोना तो यह देखकर आता है कि वे अपनी मातृभाषा का नाम बँगला, मराठी, गुजराती, तामिल आदि नहीं बताते। नहीं, उनके मुँह से तो 'मल्लिका' काशिका, भोजपुरी, बनारसी आदि ही सुनाई पड़ती हैं। हाँ, जब कोई विवेकी यह कहता है कि मैथिली हमारी मातृभाषा है तब हमारा उससे कोई विरोध नहीं होता पर जब वही उसी साँस में यह भी कह जाता है कि हिन्दी हमारी मातृभाषा नहीं है तो हमें कुछ चकित हो जाना पड़ता है। कारण कि हम उसी न्याय से उसी के मुँह से केवल इतना

सुनना चाहते हैं कि कौरवी (मेरठी वा खड़ी बोली) हमारी मातृभाषा नहीं है, कुछ 'हिन्दी हमारी मातृभाषा नहीं है' नहीं । भला जो हिन्दी विद्यापति को अपना समझती है वह किसी मैथिल की—मातृभाषा न सही— भाषा कैसे नहीं हो सकती ?

अच्छा, तो जिस मातृभाषा को लेकर ऐसा धर्मयुद्ध छिड़ा है वास्तव में वह मातृभाषा है क्या ? कह तो नहीं सकते किन्तु विवेक का आग्रह यही है कि इसे 'मदरटंग' का भोंडा अनुवाद मान लें । अँगरेजी साहित्य में यदि कहीं 'मदर लैंग्युएज' का प्रयोग हुआ है अथवा होता है तो उसका हमें पता नहीं । हम तो उक्त साहित्य में सर्वत्र 'मदरटंग' ही का प्रयोग पाते हैं और फलतः उसे मातृवाणी से कुछ अधिक नहीं मानते । सच तो यह है कि यदि हम 'वाणी' और 'भाषा' के भेद को समझते और अपने अतीत की साखी से काम लेते तो प्रमादवश हिन्दी के क्षेत्र में इस प्रकार का विवाद न उठाते जिससे अपना अमंगल और पूर्वजों का उपहास होता । हमें जनपदों की चिन्ता सता रही है पर हम अपने आपको समझना नहीं चाहते । दिखाई तो यह दे रहा है कि हम जनपदों के उद्धार में अपने आपको ही खो देना चाहते हैं और भाषा के पुण्यक्षेत्र में एक ऐसा बखेड़ा खड़ा कर अलग हो जाना चाहते हैं जिसके समाधान का हमारे पास कोई साधन नहीं । नहीं, सभी प्रकार से हमें परितः प्रयत्न करना चाहिए कि मातृभाषा की यह मधुर बयार हमें मोहने न पावे और हम इसके मोह में न पड़कर इसके स्वरूप को समझें, इसके इतिहास को परखें और फिर वह पग आगे बढ़ाएँ जो कभी पीछे नहीं हटता और इष्ट को प्राप्त कर ही विश्राम लेता है ।

और, यदि अपने यहाँ के वाङ्मय को टटोला जाय तो कहीं मातृभाषा का कोई प्रयोग नहीं मिलता । यदि मिलता है तो जन्मभाषा, देशभाषा आदि का ही । सच तो यह है कि यदि हम अपनी परम्परा का अध्ययन आँख खोलकर अपनी आँख से करें तो स्पष्ट अवगत हो जाय कि वस्तुतः मातृभाषा की पुकार में कोई सार नहीं । यह तो पश्चिम के अखाड़े की उखड़ी बयार है । अस्तु, यदि हमको सचमुच भाषा के प्रश्न पर विचार करना है तो हम गोद की गोहार को छोड़कर देश की दशा पर ध्यान दें और जन्मभाषा, जनभाषा, जातिभाषा आदि की उचित व्यवस्था कर देशभाषा को ही पूरा महत्त्व दें और अपनी 'भाषा' को ही शिक्षा का माध्यम अथवा अपना सर्वस्व बनायें । स्मरण रहे, एक ही के साधने से सब सध जाता है पर सबको साधने से सब कुछ चला जाता है । भला मूल

को छोड़कर पात पात सींचने से किसका उद्धार हुआ है जो सभी बोलियों को सर्वस्व बनाना चाहते हो।

—:०:—

२६—हिन्दी

हिन्दी एक नन्हा सा प्यार-भरा आदर और सम्मान का शब्द है। यह कभी बाहर से देश में आया और घुलमिल कर यहीं का हो रहा। लोग इसे विदेशी कहते हैं तो जी चाहता है कि उनसे मुँह फेर लें और फिर कभी उनकी कोई बात न सुनें। इसका एक मात्र कारण यही है कि यह हमारे भीतर बस गया है, हमारे सुख-दुःख को सह चुका है, हमारे गौरव और अभिमान को संसार के सामने रख सका है। फिर भी लोग इसके विरोध में उतर पड़े हैं और हिन्दी की चिन्दी निकालने में तुल गये हैं। कहते हैं, यह तो सम्प्रदाय की धरोहर है, हम इसकी निगरानी क्यों करें? क्यों न इसकी जगह एक नई 'हिन्दुस्तानी' की सृष्टि करें और राष्ट्र को हिन्दी के दलदल से बचा लें? बात तो बहुत ही ठीक है। आँख खुलने के पहले का सुख-स्वप्न बड़ा ही मधुर होता है पर स्वप्न-भंग हुआ नहीं कि विपदा के बादल उमड़ आते हैं और फिर सोने की कौन कहे बचने को भी जगह नहीं मिलती और सारा स्वप्न-साम्राज्य ढह जाता है। ठीक यही दशा आज देश की हो रही है। 'हिन्दी' इसी समय ब्रह्मवाणी का काम करना चाहती है।

हिन्दी में पत्र-पत्रिकाओं की कमी नहीं। वे एक से एक बढ़कर सजधज के साथ हिन्दीहित में लीन हैं। फिर भी यह 'हिन्दी' आपके सामने आ पड़ी है और चाहती है कि आप इसे भी अपना लें। यदि आप उपयोगिता की दृष्टि से देखेंगे तो संभवतः आपको कुछ भी दिखाई [illegible] मनोविनोद की सामग्री भी न मिलेगी। उल्लास और सुख के साधन भी प्राप्त न होंगे; फिर होगा क्या, यह हम नहीं कह सकते। आप स्वयं विचार करें कि होनहार क्या है। विश्व में रहने के लिये ठौर कहाँ है। हम किस युग और किस समय में क्या चाहते हैं? हिन्दी हमारे सामने क्यों मौन डटी है?

हाँ, 'हिन्दी' अवश्य आप से कुछ कहना चाहती है। पर कहे तो किस मुँह से? सुनने के कान भी तो हों? न सही। पर आप अपनी आँखों से काम लेना तो सीखें। फिर देखें कि किसी 'हिन्दी' की आवश्यकता क्यों पड़ी। हाटों में निकल जाइए, विज्ञापनों पर दृष्टि डालिए, स्टेशनों

पर देख लीजिए, धर्मशालाओं में ठहर रहिए। छान डालिए पर कहीं भी आपको यह नहीं दिखाई देगा कि आपका अपनी वाणी पर अधिकार है। हाँ, कहीं आपको साहबी हिन्दी का दर्शन मिलेगा तो कहीं अटपटी सतबेझड़ी बोली का चक्र। खरी हिन्दी का तो नाम नहीं।

आपको अपनी लिपि का गर्व है। संसार इस गर्व के सामने सिर झुकाता है। पर आपको अपनी चिन्ता नहीं। आपको अपनी सन्तान तो प्रिय लगती है पर आपको उसके समय और संस्कार की सुधि नहीं। 'हिन्दी' आपको जताना चाहती है कि आपकी यह उपेक्षा अच्छी नहीं। आप अपने विनाश पर क्यों तुले हैं? क्यों नहीं बच्चों में शुद्धता का भाव भरते? क्या यह दुःख और लज्जा की बात नहीं है कि हमें अपना और अपने तीर्थस्थानों का बचा-खुचा नाम भी शुद्ध नहीं मिलता? क्या कहीं किसी भी दूसरी भाषा की ऐसी दुर्गति आपके सामने आई है? यदि कहीं रोमन लिपि में शुद्ध नाम लिखने का प्रयत्न होता है तो नागरी में वह भी नहीं। पतन! उपेक्षा!!

आप कचहरी में जाते हैं। वहाँ आपके सामने जो कागद आते हैं, आपकी समझ से बाहर होते हैं। आप पढ़े-लिखे पक्के जपाट दिखाई देते हैं? फिर भी अपने आपको सम्भावित समझते हैं। आत्मसम्मान के लिये मर मिटने को कटिबद्ध होते हैं। 'हिन्दी' आपको बताना चाहती है कि आप मूल को काट कर पल्लव सींच रहे हैं। इससे किसी अमरफल की प्राप्ति नहीं हो सकती। यदि आप किसी जीवट के व्यक्ति हैं और अपने आपको कुछ समझते भी हैं तो यह आपका पहला धर्म है कि अपनी भाषा की रक्षा करें और अपनी साधु लिपि में अपने भाव अंकित करें। भला किसी विदेशी के सामने आप अपना क्या मुँह दिखायँगे कि घर और समाज की भाषा तो कुछ और, और कचहरियों तथा दफ्तरों की कुछ और। 'हिन्दी' आपको चेताना चाहती है कि यह अवहेलना और यह ढिलाई आपको सभ्य-संसार में खड़ा होने योग्य नहीं छोड़ेगी और आपकी शिक्षित सन्तान आपकी भाँति ही सदा मूढ़ बनी रहेगी।

'हिन्दी' आपसे कहना चाहती है कि सभ्य-संसार में सभ्यता की सच्ची थाती आपके पास है, अभिमानी विश्व भी आपके सामने घुटने टेक रहा है और इस थाती की रक्षा के लिए आपको बधाई दे रहा है। पर आप न जाने किस मृगमरीचिका और किस मोह में पड़कर उसे रसातल भेजने को कटिबद्ध हो गये हैं और जो कोई आपको रोकना चाहता है उसे देश-द्रोही और न जाने क्या क्या समझ लेते हैं। क्या यह आश्चर्य की बात

DATE DUE

Class No.__________ Book No.__________

Accession No. 839

This book should be returned to
L... on the date last stamped. A fine
... charged for each day the bo

उसी न इस राष्ट्र की आ...
रसातल भेजने के जो प्रकट और प्र...
जानकारी आवश्यक है और अपने राष्ट्र और अपने स्वत्व क
वांछनीय है तो कोई कारण नहीं कि इस संकटकाल में हम अ
योग से एक नव-शक्ति का सृजन न करें और उसके द्वारा म
जीवन की ज्योति फूँक कर सचेत न कर दें। 'हिन्दी' और कुछ
नवशक्ति की वाणी है जो चिरन्तन और नित्य है। 'हिन्द
आपको जगाने के लिये हुआ है। 'हिन्दी' राजनीति को लेकर
है। वह तो लोकहृदय की वाणी है और उसी को सजग एवं
के लिये अवतरित हुई है। वह उसी प्रकार हिन्द के व्याप
व्यक्त करना चाहती है जिस प्रकार विश्व की अन्य शिष्ट भ
लोकहृदय को व्यक्त कर रही हैं। उसके सामने सम्प्रदाय न
हिन्द है। वह हिन्द में अन्य देश-भाषाओं के साथ समस्त उ
से पनपी है और आज भी सबको अपना अंग समझती है।
को कर दिखाना चाहती है। हिन्दी भेदभाव का नहीं, योग व
जो लोग उसे बनावटी बताने का कष्ट करते हैं उनके बनाव
खोल दिखाना इस 'हिन्दी' का काम है।

—:o:—

Bhawan's Sri Sanskrit ... Vidya ...
804

Bhawan's Sri ...
... Vidya ...